जून १९५२



मानव धर्म

वार्षिक मूल्य
४≡)
एक प्रति का
।=)

सम्पादकः—पं० दीनानाथ भार्गव 'दिनेश'

मानवधर्म का विशेषांक युद्धांक

जीवन की घाटी में कितनी घटनाओं का सामना करना पड़ता है? उन पर विजय कैसे प्राप्त हो? विश्व केवल विजयी पुरुषों के लिये है। कायर और अबोध मानव इसके संघर्ष में पिस जाते हैं। धर्म में कितना बल है? उसके लिये युद्ध कैसे होता है? वास्तविक विजय क्या है? आदि आदि मनोरंजक और उपयोगी प्रश्नों का उत्तर मानवधर्म के विशेषांक युद्धाङ्क में मिलेगा।

जो ग्राहक न हों उन्हें ग्राहक बनने में शीघ्रता करनी चाहिये।

और

ग्राहकों को अपना नये वर्ष का चन्दा भिजवा देना चाहिये ताकि युद्धांक जैसा उपयोगी अंक समय पर मिल सके।

2·5

विषय-सूची

आवश्यक निवेदन

युग युग में धर्म की संस्थापना के लिये अवतार लेकर भगवान् जिस युद्ध क्रिया द्वारा पाप का अन्त करते हैं, उसी युद्ध विषय का दिग्दर्शन कराने के लिये इस युद्ध के समय में 'मानवधर्म' ने अपना विशेषांक 'युद्धांक' निकालने का निश्चय किया है।

मानवधर्म जिस गति से जनता जनार्दन की सेवा करता चल रहा है उतनी गति से यद्यपि उसे पुरस्कार तो नहीं मिला परन्तु हमें इतने में ही सन्तोष है कि जिस उद्देश्य को लेकर मानवधर्म उठा है वह कर्मयोग, सदाचार और शुद्ध धर्म प्रचार का उद्देश्य शनैः शनैः पूरा हो रहा है।

मानवधर्म दो वर्ष सतत युद्ध करता हुआ अब अपने तृतीय वर्ष में युद्धांक को लेकर आपकी सेवा में उपस्थित होगा। भविष्य उज्ज्वल है इसमें कोई संदेह नहीं परन्तु पाठकगण यदि थोड़ा सा भी अपने अमूल्य समय को मानवधर्म की सेवा में लगाकर कम से कम नये वर्ष के लिये **पांच पांच ग्राहक भी बनाकर भेज दें** तो हमें इस प्रचार कार्य में सफल सहायता प्राप्त हो सकती है।

मानव धर्म का नया वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है। यह जून का अंक है— पाठकों का चन्दा जुलाई का अंक पहुँच जानेपर समाप्त हो जायगा। कागज़ आदि की कमी और मंहगाई से हम न तो अधिक अंक छापना चाहते और न कम। इसलिये यदि पाठक अपना अपना चन्दा अभी से भेजना प्रारम्भ कर दें तो हमें गणना में भी आसानी होगी और साथ ही कार्यालय पर एक साथ बहुत सा काम भी आकर नहीं पड़ेगा।

एक निवेदन यह है कि बहुत सोच-विचार करने के पश्चात् मानवधर्म परिवार ने यह निश्चय किया है कि वार्षिक चन्दा कम से कम ५) तो कर ही देना चाहिये। यद्यपि ५) रुपया वार्षिक में भी कार्यालय को काफी से अधिक हानि होती है तो भी मंहगाई का ध्यान रखते हुए कार्यालय ने पाठकों पर अधिक भार डालना उचित नहीं समझा। **अतः आप अपना अगले वर्ष का चन्दा ५) ही भेजने की कृपा करें।**

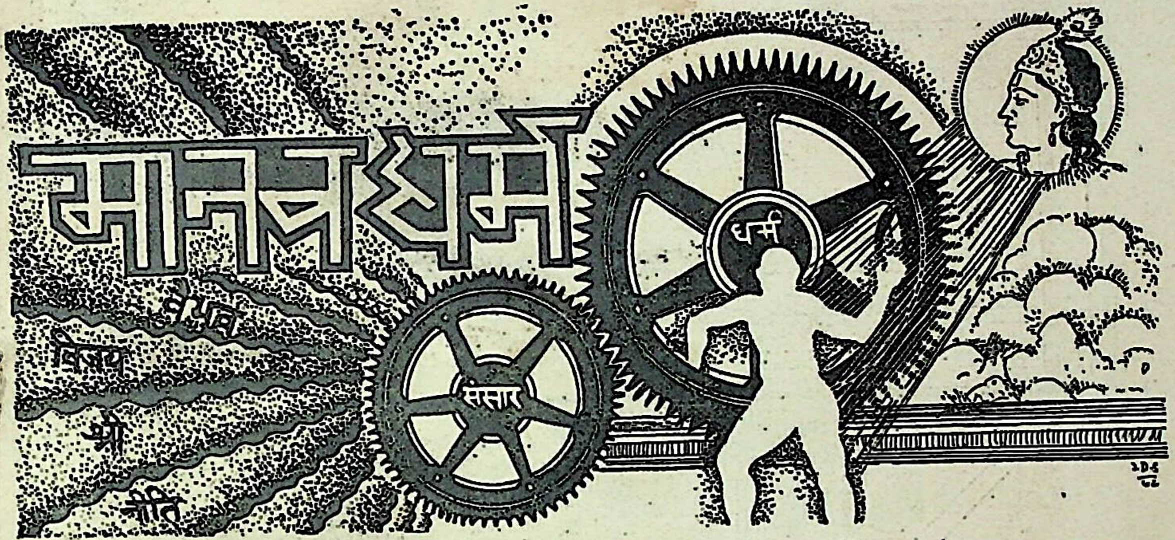
आशा है कि पाठकों का हमें पूर्ण सहयोग प्राप्त रहेगा।

विनीत—
केदार नाथ
—व्यवस्थापक



हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥



वर्ष २ | दिल्ली, ज्येष्ठ वि० सं० २००० जून १९४३ | संख्या १



❀ उजाला ❀

देखा जग का नश्वर जीवन
जीवन में उत्पीड़न।
देखा क्षण क्षण में कण कण में
व्यापा करुणा क्रन्दन॥
नित्य प्रलय सा धूँ धूँ करता
द्वेष क्लेश दुख देखा।
देखी भव के भीषण पट पर
प्रलयङ्कर की रेखा॥
देखा शोषण भाव भयङ्कर
जीव जीव का वैरी।
स्वार्थ-पिपासा-नभ के नीचे
घोर अशांति अंधेरी॥
उठी आँख जिस ओर उधर ही
है अशेष तम काला।
किन्तु एक घनश्याम रंग में
दिखा 'दिनेश' उजाला॥

'दिनेश'





धर्म का स्वरूप

मानवधर्म

[लेखक—श्री पं० छाजूराम जी शास्त्री विद्यासागर]
संस्थापक—संस्कृत महाविद्यालय देहली

दुर्लभं त्रयमेवैत दैवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

मनुष्यत्व प्राप्त करना संसार में दुर्लभ है। चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भ्रमण करने पर किसी प्रबल पुण्यप्रताप से मानव शरीर प्राप्त होता है। इसी कारण भगवान् शंकराचार्य ने लिखा है कि मानव शरीर, मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा और महात्मा पुरुषों का संग ये तीनों दुर्लभ हैं।

मानव शरीर प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को स्वभावतः मानवधर्म की ओर झुकना चाहिये। मानवधर्म से विरुद्ध आचरण करने पर मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा इस प्रकार नहीं हो सकती जैसे मृगतृष्णा में शान्ति। मानवतन में उस परमपिता ने हमें जो सुविधाएँ, ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां प्रदान की हैं उनकी सार्थकता उसी समय है जब उनका ठीक ठीक उपयोग हो। खाना पीना, आराम करना, जैसे तैसे शरीर यात्रा का निर्वाह करलेना केवल इतना ही मनुष्य का धर्म नहीं; कारण—

आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हितेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः॥

आहार निद्रा भय मैथुन आदि तो जैसे पशु में होते हैं वैसे ही नर में भी होते हैं। परन्तु जिस गुण से मानव वास्तव में मानव है वह एकमात्र गुण तो धर्म है। पशु पक्षी आदि जीवजात धर्म-शून्य हैं। वे इस लोक तथा परलोक को सुखमय बनाने में सर्वथा असमर्थ हैं। केवल मानव ही मानवधर्म द्वारा अपने पवित्र आचार, विचार तथा व्यवहार से दोनों लोकों को कल्याणमय बनाता हुआ धर्मात्मा

कहला सकता है। धर्म का लक्ष्य बताते हुए कणाद ने लिखा है—

'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतुः। अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनितश्च निश्रेयसहेतुः।

वेद-विहित यज्ञादि सत्कर्म तथा सत्पात्र में दान आदि जिससे यह लोक सुखमय बने और कर्मयोग, उपासना, ज्ञान आदि जिनके द्वारा परम पुरुषार्थ सुलभ और सफल होकर परम-पद की प्रप्ति हो जाय यही तो मानवधर्म है। मानव शरीर प्राप्त करके मानवधर्म का आचरण न करने से केवल अपना ही आत्मघात और पतन नहीं है वरन् देश-द्रोह और मनुष्य जाति के साथ धोखा है।

आज ऐसा भयङ्कर समय उपस्थित है कि साधारण पुरुष अपने जीवन में यह भी निश्चय नहीं कर पाते कि धर्म क्या है। इस समय संसार में सहस्रों मत मतान्तर प्रचलित हैं और उन सभी मतों के अनुयायी अपने अपने मत को सत्य एवं ईश्वरीय सिद्ध करने की भयङ्कर चेष्टा में लगे रहते हैं।

ऋषि मुनियों और महात्माओं का कहना है कि जो अनादि अनन्त ईश्वरीय मत है वही मानने योग्य है। जिसमें सब प्राणिओं का हित निहित है जिसमें सत्यं शिवं और सुन्दम् के दर्शन हों वही मानवधर्म है। मत, समाज, संघ अथवा पुरुष विशेष द्वारा प्रचलित किये हुए मत केवल सम्प्रदाय हैं धर्म नहीं। धर्म वह जो सदा एक रस रहे। जिसके अटल नियम सर्व देश, पात्र और काल के लिये समान रूप से हितकर हों। ऐसा धर्म ही सनातन मानवधर्म है। धर्म कभी मिटता नहीं। सुरासुर-संग्राम हुआ, हिरण्य कशिपु, रावण, कंस जरासिंध आदि अतुलित बलशाली योद्धा हुए, इन्होंने धर्म को रसातल में पहुंचा कर मन माना शासन करना चाहा परन्तु सब का अन्त हुआ और धर्म ज्यों का त्यों कायम रहा। कलियुग में तो धर्म के ऊपर नित्य नये नये कुठाराघात होते रहे हैं और हो रहे हैं परन्तु धर्म दृढ़ता से अपना महत्व लिये ज्यों का त्यों खड़ा है। बल्कि जो धर्म को धारण किये हुए हैं वे भी उसी प्रकार अचल और आनन्द पूर्वक विचरते हैं।

श्रीमद्भागवत् में लिखा है—

'पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा'

मनुष्य जन्म पाकर जिस मनुष्य ने संसार सागर से तरने का उपाय नहीं सोचा वह सचमुच आत्मघाती है।

अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

सब धर्मों में जीवात्म परमात्म ज्ञान ही परम-धर्म है।

ज्ञान और सत्कर्म द्वारा ही मानव परम-गति का अधिकारी बनता है। जिस पुण्यात्मा का चित्त परमपिता परमात्मा में लीन है जो सदैव सत्कर्मों में निरत है उससे पृथ्वी पुण्यवती कहलाती है। वही देशजाति और कुल का भूषण है। संसार में शांति की स्थापना उसी समय होगी जब मानवधर्म को धारण करने वाले पुरुष पृथ्वी की गोद को पुण्यवती बनायेंगे।



व्यावहारिक धर्म

सुख का मूल

[लेखक—श्रीयुत रत्नेश्वरदयालु]

यह जीव अविज्ञात समय से अपने यथार्थ-स्वरूप को भूलकर नाना योनियों में फंसकर अनेक बार जन्म-मरणादि के दुखों को भोगते भोगते भाग्यवश कभी इस साधन-धाम, सर्वोत्तम, सर्वोपयोगी मनुष्य देह को प्राप्त करता है। इसमें ही उसका उत्थान होकर उसके वास्तविक स्वरूप उस मुक्ति का लाभ हो सकता है जिसका हेतु उपरोक्त कथनानुसार केवल एक धर्म ही है। इसीलिये धर्म का मानव-जीवन से विशेष सम्बन्ध है। धर्म-विरुद्ध आचरण से अपने वास्तविक स्वरूपानुकूल कर्तव्य को छोड़कर अज्ञान के कारण फिर वही नाना क्लेशों के द्वार झांकने का बारम्बार अवसर उसके सम्मुख आ जाता है, जिससे सावधान रहने को शास्त्र और सन्तजन निरन्तर पुकार पुकार कर कह रहे हैं और स्वयं श्री भगवान् ने भी कह दिया है:—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

मनुष्य अपने स्वरूप को न पहचान कर दुनियां की नश्वर चीजों की देख भाल और परख में ही सारी आयु बिता देता है। इस अनर्थ के फल से ही उसे ठोकरें खानी पड़ती हैं।

एक बार किसी किसान की लड़की को खेलते खेलते अपने खेत में एक हीरा प्राप्त हुआ। एक चमकीला पत्थर-मात्र समझकर वह उसे अपने घर ले आई और उससे खेलने लगी। अकस्मात् उसकी माता को भोजन बनाने के लिए लवण की आवश्यकता हुई। घर में पैसा कौड़ी न रहने से और उस चमकते पत्थर को यह समझकर कि वह कौड़ी दो कौड़ी का तो माल अवश्य ही होगा, अपने पड़ोस के एक वणिक से उस कन्या द्वारा लवण मंगाकर अपना काम चलाया। उस बनिए ने जब उस पत्थर में कुछ विशेष प्रकाश देखा तो वह उसे बेचने को नगर में ले गया। और वहाँ यह प्रकट होकर कि वह एक हीरा है पारखियों को दिखाया गया। जब कोई उसका ठीक मूल्य न बता सका तो होते होते वह हीरा वहाँ के राज्य-दरबार तक पहुँच गया। राजा ने वहाँ के मुख्य २ जौहरियों को इकट्ठा कर उस हीरे का मूल्य निश्चय करने की आज्ञा की। जब वे भी असमर्थ रहे तो किसी के कहने से एक वृद्ध जौहरी को जो पहले अपनी युवावस्था में इस कार्य को कर चुका था बुलाकर पूछा गया। तब उसने सोच-विचार कर निश्चय से यह बताया कि उसका मूल्य निन्यानवे हजार रुपये है। साथ

ही राजा को परीक्षा कराकर यह भी निश्चय करा दिया कि यदि इसके एक कोने पर अमुक दोष न होता तो यह पूरे लाख रुपये का होता। राजा बूढ़े जौहरी से प्रसन्न हुआ और अपने प्रधान मंत्री से पूछा कि इस जौहरी की विलक्षण-बुद्धि पर उसे क्या पारितोषिक दिया जाए। इस पर वह मंत्री भी सोच में पड़ गया। फिर थोड़ी देर बाद उत्तर दिया कि 'महाराज, इस जौहरी को सौ जूते देने चाहिए—यही उसका पारितोषिक है।'

राजा ने क्रोध से कहा कि मंत्रीजी आप नशे में तो नहीं हैं?

मंत्री ने कहा—मैंने जो कुछ कहा है वह भली-भाँति सोचने के उपरान्त ही। यदि शान्त चित्त होकर आप सुनें तो निवेदन करूँ।

राजा के आश्वासन से उस विद्वान् और चतुर मंत्री ने कहा कि महाराज निश्चय ही इस जौहरी की बुद्धि अतिशय प्रशंसनीय है। परन्तु ऐसी विलक्षण बुद्धि परमात्मा से प्राप्त करके भी आत्म-तत्व की परख करने के बदले, केवल मात्र इन कंकड़ पत्थरों की ही निरख परख में व्यतीत करदी उसे इस घोर अज्ञान के बदले और क्या दिया जाय?

इस विषय में अपनी तथा संसार की शोचनीय दशा पर विशेष विचार किया जाए तो एक पृथक् ग्रंथ ही बन सकता है और इस पर पहले से अनेकानेक महापुरुषों ने ही सब कुछ कह दिया है। अतः यहां विस्तार भय से इतना ही संकेतमात्र निवेदन पर्याप्त समझकर प्रत्येक मनुष्य को उचित कर्तव्य के पालन में तत्पर हो जाना चाहिए। जिसको भूल जाना और तो क्या अपना ही महा अनर्थ कर डालना है। एक प्रकार से आत्महत्या ही है।

मनुष्यमात्र के सम्पूर्ण धर्म केवल तीन ही बातों के अन्दर आजाते हैं और वह यह हैं:—

"वैष्णवानां त्रयो धर्माः दया जीवेषु नारद।
श्रीगोविन्दपराभक्तिः, तदीयानां समर्चनम्॥

यहां सबसे प्रथम है 'वैष्णव' शब्द। और 'विष्णु' एक नाम परमात्मा का है, जिसके रूप को वेद में 'परमपद' कथन किया गया है। जैसा कि 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादि शब्दों से प्रकट होता है। अतः 'वैष्णव' का अर्थ 'विष्णु' या 'परमपद' के उपासक का हो गया। जिसको लेने पर श्लोक का यह अर्थ निकलता है। उस परमपद के उपासकों के केवल तीन धर्म हैं—(१) जीवों पर दया (२) श्री भगवान् की परम भक्ति, तथा (३) उसके उपासकों तथा भक्तों या महापुरुषों की भली प्रकार सेवा।

श्री मन्महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य देव ने भी इसी को अपने इस अवतार में श्री सनातन गोस्वामीजी को उपदेश करते समय इस प्रकार दुहरा दिया है—

'जीवे दया, नाम रुचि, वैष्णव सेवन
ए बाह्य आर धर्म नाहि सुनो सनातन।

इस वचन में श्री गोविन्द-पराभक्ति के स्थान पर 'नाम-रुचि' शब्द इसलिए आया है कि भक्ति के अनेक भेद हैं परन्तु वास्तविक भक्ति का प्रारम्भ प्राण-प्रियतम के नाम में रुचि से ही होता है जो उसे बारम्बार प्रदीप्त करता रहता है।

धर्म का सार्वभौम मूल-सिद्धान्त जीव का अपने सनातन वास्तविक स्वरूप ज्ञान द्वारा अखंड परमानंद का उपार्जन करना है। परन्तु जीव का स्वरूप आत्मा है और उसका मूल परमात्मा है. जिसका कि वह अंश है। इसलिए परमानन्द की प्राप्ति भी बिना परमात्मा की प्राप्ति के नहीं हो सकती। बस इसीलिए परमात्मा की भक्ति आवश्यक हो जाती है।

पुनः जीव अनेक हैं और वह सभी हमारी तरह उसी परमात्मा के अंश हैं जिनके घट घट में वही परमात्मा विराजमान है। फिर जीव यहाँ परस्पर प्रकट और परमात्मा अप्रकट रूप से है इसलिए परमात्मा की प्राप्ति के लिए उसकी भक्ति से पहले ही हमें उसके अंश रूप अपने सजातीय जीवात्माओं से प्रेम करने की आवश्यकता है। इसी जीवात्म-प्रेम द्वारा हम उस परमात्म-प्रेम का लाभ कर सकते हैं। यही जीव प्रेम लघु जनों के साथ दया, और गुरुजनों वा समजनों के साथ सेवा सम्मान कहलाता है। सारांश यह कि अपने मूल सत् स्वरूप ज्ञान प्राप्ति के लिए केवल एक मूल धर्म परमात्म-भक्ति है। उसी की प्राप्ति के लिए दूसरा धर्म जीव प्रेम और उसी जीव प्रेम के उपरोक्त दया और सम्मान रूप दो भेद होकर व्यवहार में कुल तीन धर्म हो गए। और जीव व्यवहार में आत्मा तथा परमात्मा से पृथक् और कोई भी वस्तु नहीं दिखाई देती। अतएव मनुष्य वा प्राणीमात्र के सम्पूर्ण वा समस्त धर्म इन्हीं उपरोक्त सारभूत तीन धर्मों के अन्तर्गत आ जाते हैं और इसी से कहा गया है कि इससे पृथक् धर्म और कोई वस्तु नहीं है।

सारांश यह कि संसार में जितने भी सामान्य, विशेष, लौकिक और पारलौकिक धर्म हैं वा हो सकते हैं वे सब देश, काल, पात्रादि भेद से इन्हीं उपर्युक्त धर्म के प्रभेद और व्याख्या हैं और उन सभी का सार मूल केवल ईश्वर भक्ति, जीव दया और सज्जनों वा महापुरुषों की सेवा सम्मान मात्र है, जिससे सर्वानन्द की प्राप्ति हो सकती है और यह सभी धर्म उसी एक भगवद्-प्राप्ति के लिए सर्वोपरि धर्मरूप भगवद्भजन के क्रमशः अनेक साधन हैं जो लौकिक, पारलौकिक सभी सुखों के एकमात्र मूल कारण हैं—जैसा कि श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपनी 'विनय पत्रिका' में निर्णय कर कह दिया है—

"तुलसिदास सब भांति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम काम सब पूरण करहिं कृपानिधि तेरो॥"

मन मानस में माधुर्य्य घोल।

पंछी गण तरु पर चहक रहे
जल में लहरें कर उठी नृत्य।
अवनी पर उतरा स्थी भानु
करने निज निश्चित उचित कृत्य॥
जगती को जाग्रत करने चल, उठ अन्तस्तल का द्वार खोल।
मन मानस में माधुर्य्य घोल॥

कलियों में जीवन जाग उठा;
खिल चला स्वयं ही विश्व कुंज।
इस कर्म-योग की वेला में,
जन बना तेज का पुण्य पुंज॥
मोहित हो देवि सफलता की, नर तेरे पीछे रही डोल।
मन मानस में माधुर्य्य घोल॥

—कुमारी प्रेम

श्री अरविन्द संदेश

गीता का धर्म

(श्री अरविन्द)

जिन लोगों ने गीता को ध्यानपूर्वक पढ़ा है उन लोगों के मन में संभवतः यह प्रश्न उठ सकता है कि भगवान् श्री कृष्ण ने बार-बार योग शब्द का व्यवहार किया है और युक्तावस्था का वर्णन किया है, परन्तु साधारण लोग जिसे योग समझते हैं उसके साथ तो वह जरा भी नहीं मिलता ? श्रीकृष्ण ने जगह-जगह पर संन्यास की भी प्रशंसा की है, निश्चित रूप से यह भी कहा है कि अनिर्देश्य पर-ब्रह्म की उपासना करने से परम-गति प्राप्त होती है, परंतु उसे बहुत संक्षेप में ही शेष कर गीता के प्रधान भाग में नाना प्रकार से त्याग की ही महिमा का वर्णन किया है और अर्जुन को यह समझाया है कि वासुदेव के ऊपर पूर्ण श्रद्धा-भक्ति रखने तथा उन्हें ही आत्म-समर्पण करने से परमावस्था की प्राप्ति हो सकती है। छठे अध्याय में थोड़ा सा राजयोग का वर्णन है, परंतु गीता को राजयोग प्रचारक ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। समता, अनासक्ति, कर्म-फलत्याग, श्रीकृष्ण के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण, निष्काम-कर्म, गुणातीत्य और स्वधर्म सेवा ही गीता के मूलतत्त्व हैं। इसी शिक्षा को भगवान् ने परम-ज्ञान और गूढ़तम रहस्य कहा है। हमारा विश्वास है कि गीता ग्रंथ ही जगत् के भावी धर्म का सर्वजन सम्मत शास्त्र होगा। परंतु गीता के सच्चे अर्थ को सब लोग हृदयंगम नहीं कर पाते। बड़े-बड़े पंडित और श्रेष्ठ मेधावी तीक्ष्णबुद्धि लेखक भी उसके गूढ़ार्थ को समझने में असमर्थ होते हैं। एक ओर तो मोक्षपरायण व्याख्याकारों ने गीता के अन्दर अद्वैतवाद और संन्यास धर्म की श्रेष्ठता को देखा है, और दूसरी ओर अंग्रेज दर्शनसिद्ध बंकिमचंद्र ने गीता में केवल साररूप से कर्तव्य-पालन का उपदेश देखकर वही अर्थ तरुण मंडली के मन में पैठाने की चेष्टा की है। संन्यासधर्म बहुत श्रेष्ठ धर्म है। इसमें संदेह नहीं; परंतु उस धर्म का आचरण बहुत थोड़े से लोग ही कर सकते हैं। सर्वजन सम्मत धर्म में तो ऐसे आदर्श और तत्त्व-शिक्षा को समाविष्ट करने की आवश्यकता है जिसे सर्वसाधारण अपने-अपने जीवन और कर्मक्षेत्र में उपलब्ध कर सकें और साथ ही उस आदर्श का पूर्ण रूप से

आचरण कर उसी अल्पजन-साध्य परमगति को प्राप्त कर सकें। धीरता के साथ अपने कर्तव्य का पालन करना उत्कृष्ट धर्म तो है, पर 'कर्तव्य है क्या' इसी जटिल समस्या के कारण तो धर्म और नीति के अन्दर नाना प्रकार के झगड़े खड़े हुए हैं। भगवान् ने गीता में कहा है—'गहना कर्मणो गतिः', क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, क्या कर्म है, क्या अकर्म है, क्या विकर्म है इसका निर्णय करना ज्ञानी के लिये भी कठिन होता है, मैं तुम्हें एक ऐसा ज्ञान दूंगा कि तुम्हें अपने गंतव्य-पथ का निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं होगी, कर्म जीवन का लक्ष्य तथा सर्वदा अनुसरण करने योग्य नियम एक बात में ही विशद रूप में निर्धारित होंगे। यह ज्ञान क्या है, यह लाख बातों की एक बात हमें कहाँ मिल सकती है? हमारा विश्वास है कि गीता के अन्तिम अध्याय में जहाँ भगवान् ने अपना सर्वगुह्यतम वक्तव्य सुनाने की प्रतिज्ञा अर्जुन के सामने की है वहीं हम इस दुर्लभ अमूल्य वस्तु को खोजने पर पा सकते हैं। यह सर्वगुह्यतम परम वचन क्या है—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इन दोनों श्लोकों का अर्थ एक शब्द में ही व्यक्त किया जा सकता है और वह शब्द है आत्मसमर्पण। जो जितनी मात्रा में श्रीकृष्ण के निकट आत्मसमर्पण करेगा उतनी ही मात्रा में उसके शरीर में भगवद्-दत्त शक्ति आकर परम मंगलमय की कृपा से उसे पाप-मुक्त और देवभावापन्न बना देगी। उसी आत्म-समर्पण का वर्णन प्रथम श्लोक के आधे भाग में किया गया है। तन्मना तद्भक्त तद्याजी होना होगा। तन्मना अर्थात् सब भूतों में उनका दर्शन, सदा-सर्वदा उनका स्मरण करना होगा तथा सब कार्यों और घटनाओं को उनकी शक्ति, ज्ञान और प्रेम का खेल समझकर परमानन्द में डूबा रहना होगा। तद्भक्त अर्थात् उनके ऊपर पूर्ण श्रद्धा और प्रेम स्थापित कर उनके साथ युक्त होना होगा। तद्याजी अर्थात् छोटे-बड़े सभी कर्मों को श्रीकृष्ण के प्रति यज्ञ रूप में अर्पण करना होगा तथा स्वार्थ और कर्म फल की आसक्ति का त्याग कर उन्हीं के लिये कर्तव्यकर्म में प्रवृत्त होना होगा। पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करना मनुष्य के लिये कठिन है, परन्तु थोड़ी सी चेष्टा करने से स्वयं भगवान् अभय देकर, गुरु, रक्षक और सुहृद् बनकर योग पथ में अग्रसर कर देते हैं। स्वल्पमप्यस्यधर्मस्य त्रायते महतो भयात्। उन्होंने कहा है कि इस धर्म का पालन करना सहज और सुखप्रद है। वास्तव में ऐसा ही है और फिर पूर्ण आचरण का फल होता है अनिर्वचनीय आनंद, शुद्धि और शक्ति की प्राप्ति। 'मामेवैष्यसि' अर्थात् मुझे प्राप्त होगे, मेरे साथ निवास करोगे, मेरी प्रकृति को प्राप्त करोगे। इस तरह सादृश्य, सालोक्य और सायुज्य प्राप्त करने की बात कही गयी है। जो गुणातीत है उसने भगवान् के साथ सादृश्य-प्राप्त कर लिया है। उसे किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती फिर भी वह कर्म करता है, पापमुक्त होकर महाशक्ति का आधार बनता है और उस शक्ति के सभी कार्यों में आनन्द पाता है। सालोक्य भी केवल देहपात के बाद ब्रह्मलोक की प्राप्ति को ही नहीं कहते, बल्कि इसी शरीर में भी सालोक्य की प्राप्ति होती है। देहयुक्त जीव जब अपने अन्तर में परमेश्वर के साथ क्रीड़ा करता

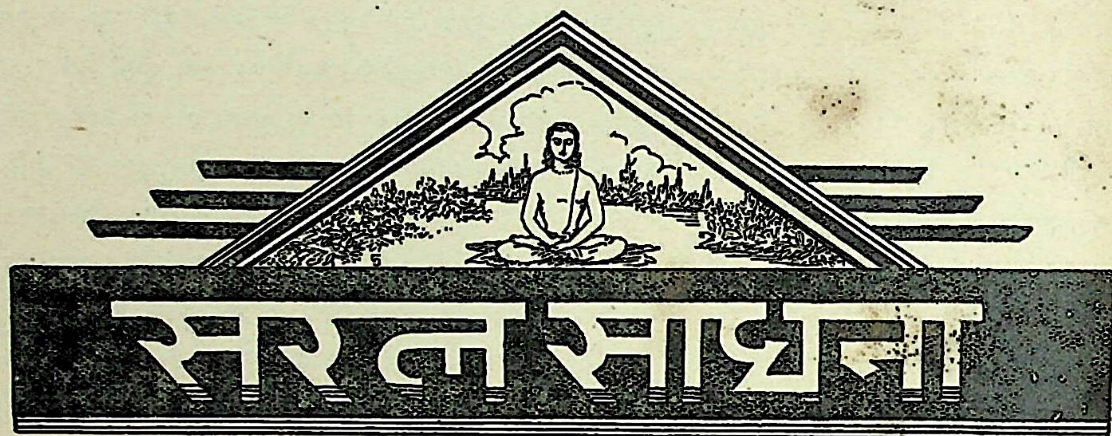
है, उसका मन उनके दिये हुए ज्ञान से पुलकित होता है, उसका हृदय उनके प्रेम स्पर्श से आनन्दमग्न होता है, उसकी बुद्धि निरंतर उनकी वाणी सुनती है और प्रत्येक विचार में उन्हीं की प्रेरणा को अनुभव करती है तब इसी को मानव शरीर में भगवान् के साथ सालोक्य प्राप्ति कहते हैं। सायुज्य भी इस शरीर में ही प्राप्त होता है। गीता में भगवान् के अन्दर निवास करने की बात कही गयी है। जब यह अनुभूति स्थायी रूप से प्राप्त होती है कि सब जीवों में वही हैं, सभी इन्द्रियां उन्हीं का दर्शन करती हैं, श्रवण करती हैं, गन्ध लेती हैं, आस्वादन करती हैं, स्पर्श करती हैं, जीव सर्वदा उन्हीं के अन्दर अंश रूप-रूप से निवास करने का अभ्यासी हो जाता है तब इसी को शरीर में सायुज्य प्राप्ति कहते हैं। यह परमगति पूर्ण रूप से इस धर्म का अनुशीलन करने पर प्राप्त होती है। तब इस धर्म का थोड़ा सा भी आचरण करने पर महती शक्ति, विमल आनंद और सुखपूर्ण शुद्धता की प्राप्ति होती है। यह धर्म केवल विशिष्ट-गुण-सम्पन्न लोगों के लिये ही नहीं रचित हुआ है, भगवान् ने कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुरुष, स्त्री, पापयोनि प्राप्त जीव पर्यन्त इस धर्म के द्वारा उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। घोर पापी भी उनकी शरण में आनेपर थोड़े दिनों में ही विशुद्ध हो जाता है। अतएव यह धर्म सबके आचरण योग्य है। जगन्नाथ के मंदिर में जाति-विचार नहीं। और साथ ही इसकी परमगति किसी भी धर्मनिर्दिष्ट परमावस्था से घटकर नहीं। (धर्म और जातीयता से)

साहित्य महोपाध्याय आशुकवि कविभूषण

पं० श्रीहरि शास्त्री दाधीच

शुभाशी:

मोह दूर कर धैर्य बढ़ाता
देता कर्म योग उपदेश।
बुद्धि बोध की कर सिखलाता
नित श्रीहरि की भक्ति विशेष॥
योग सिखा मति विमल बनाता
करता है वेदान्त प्रचार।
भगवद्गीता सा यह जग में
जीवे मानवधर्म उदार॥



श्रेष्ठ-सुख

[लेखक—विद्याभूषण पं० मोहन शर्मा, विशारद]

परम-पिता परमेश्वर की सृष्टि का रहस्य मानव बुद्धि की पहुंच से परे है। फिर भी संसार में नित्य नैमित्तिक सृष्टि-प्रकृति को देखकर हम उस स्रष्टा के पावन अस्तित्व का अनुभव करते हैं। यह विचित्र जीव-प्रकृति उस अनन्त परमात्मा की क्षुद्र प्रतीक है। हमारे अपने छोटे से परिवार में जो माता-पिता का स्नेह, पुत्र-पुत्री की ममता और गृहिणी के अटूट प्रेम से आवद्ध है—इसमें भी जगतकर्ता के अनन्त स्नेह और करुणा-भाव की पवित्र झाँकी मिलती है। जिस प्रकार पिता का हृदय अपत्य-स्नेह से लहराता रहता है उसी प्रकार परम-पिता भी अपनी अनन्त कोटि सन्तानों के ममत्व में डूबे रहते हैं। करुणा-वरुणालय भगवान् ने अपनी इस महा मोह की माया को इसी भाँति समग्र संसार में सम्प्रसारित किया है। उसकी इस इच्छा को मानव-जीवन की विभिन्न प्रकृति और उसकी गति पर से अच्छी तरह समझने में सहायता मिलती है। युग युगान्तर से मनुष्य कर्म-फलभोग के लिये ही संसार में जन्म ग्रहण करता है। इसमें फलभोग के साथ साथ परलोक के लिये पाथेय सञ्चित करने का भी प्रयोजन रहता है। हम देखते हैं कि संसार में कोई भी पिता दुर्व्यसनी पुत्र का अधिक काल तक साथ नहीं देता। उसकी पाप प्रवृत्ति और बुरी आदतों से लाचार हो उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर मानता है। किन्तु, परम-पिता परमेश्वर के राज्य में त्याज्य पुत्र कोई भी नहीं है। उसका प्रेम असीम है और बुरे भले सब उसके प्रिय पुत्र हैं। इतना ही नहीं वह अपने पुत्रों को उन्नति-मार्ग पर ले जाने के लिये अदृश्य शक्ति के रूप में सदैव उनको प्रेरणा करता है और प्रकृति माता भी हर समय, हर घड़ी, उनका पथ-प्रदर्शन करती है। इसीलिये प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसा दिन अवश्य आता है जब वह इस अदृश्य शक्ति की दया के प्रति अपने आपको अर्पित कर देता है और तभी उस करुणाकर के अनन्त उपकारों की स्मृति से हृदय जागरूक हो उठता है।

जीवन की इन मंजुल घड़ियों को प्राप्त करने का सुयोग जुट जाने और परम-पिता के अपरम्पार स्नेह का भान होने पर वाह्य-प्रकृति की इस माया मूर्ति में आस्था नहीं रह जाती। मन मानस में उसके प्रति उदासीनता हो जाती है। तब सांसारिक माया, मोह, विघ्न बाधाएं मनुष्य को अपने बन्धन में बांधकर नहीं रख सकतीं। और देखते-देखते एक वह दिन आ जाता है जब परम-पिता के श्रीचरणों में सर्वस्व अर्पित कर उसके शुभागमन की प्रतीक्षा का ही एक प्रश्न शेष रह जाता है। कर्म फल के भोग का भुगतान करते-करते जब मनुष्य में असत् के प्रति अनास्था उत्पन्न हो जाती और वह सत्य को जानने की कोशिश करता है तो प्रकृति का द्वार उसके लिये उसी दिन उन्मुक्त हो जाता है। इस बन्धन से मुक्ति ही जीवन-मार्ग की एक बड़ी से बड़ी सफलता है। स्थायी अनुभूति शक्ति और कर्म-शक्ति का सम्मिलन हुए बिना अन्तरात्मा का उद्बोधन नहीं होता। हम देखते हैं कि मनुष्य किसी के भी जीवन में ऐसे विशेषत्व को देख सुनकर आश्चर्य विमुग्ध हो उठता है किन्तु इसके मूल में पिछले जन्म की कितनी साधना, कितना लम्बा प्रयत्न, कितना सत्य-संकल्प और मुक्ति का भाव छिपा हुआ है—इसे कोई भी विचार पूर्वक सोचना नहीं चाहता। इस विकट बन्धन से मुक्ति के वास्तविक आनन्द का केवल वही ठीक-ठीक अनुभव कर सकते हैं। जो जीवित रहते हुये भी जीवन्मुक्त हैं।

विश्व प्रकृति अपने स्वरूप सम्भार को लिये हमें नित्य ही मोह निद्रा से जगा रही है। ऊषा की लालिमा, सायंकालीन अस्ताचल गामी सूर्य, पवन का सन सनाते हुये बहना—ये सब अनन्त जीव जन्तुओं से पूर्ण, उद्भिदमयी प्रकृति के प्रतिदिन के जीते जागते संकेत और सन्देश हैं। प्रकृति की एक साधारण सी घटना जीवन के सत्य निर्माण के लिये जीवित प्रेरणा भेजती है। यदि मनुष्य उससे अचैतन्य और असावधान न रहे तो संसार के मिथ्या विकल्पों की आसक्ति टूटने और सत्य की ओर अनुरक्ति होने में फिर देर नहीं लगती।

प्रकृति की यह आवाज मानव की मर्मस्थली को भेदने में नहीं चूकती। पर इसकी सच्ची उपलब्धि उसी दिन होती है जब मानव की सुषुप्ति भङ्ग होती है, चेतना जागती है और मोहान्धकार का विनाश हो जाता है। प्रकृति की इस चिरन्तन ध्वनि के हृदय प्रवेश में जाने क्या-क्या चमत्कार छिपा होता है। यह ध्वनि सबके ही कर्ण पुटों में प्रवेश कर रही है, पर मानव की मोहमयी निद्रा फिर भी भङ्ग क्यों नहीं होती? इसका कारण मोह-मदिरा के तीव्र नशे की मदमाती अवस्था है कि जिसमें किसी भी अच्छे प्रभाव की पहुँच ही नहीं है। अतः इसके लिये बारम्बार प्रेरणा और साधन आवश्यक है। तभी मानव की मोह मुक्ति का शुभ मुहूर्त्त आ उपस्थित होता है। इस शुभ मुहूर्त्त को ही अनन्त भुजधारी भगवान् की अनन्त करुणा और मानव रूपी सन्तान के प्रति परमपिता का अनन्त प्रेम प्रदर्शन बताया गया है। मानव को इसके लिये साधना के अभाव में अधिक काल पर्यन्त अपेक्षा करनी पड़ती है। मनुष्य की प्रेरणा और प्रकृति की प्रेरणा जिस क्षण एक हो जाती है उस समय मनुष्य इस लोक का यात्री नहीं रह जाता। बल्कि किसी अन्य लोक का यात्री होकर अपनी गति से अनन्त पथ पर चलने लग जाता है।

जब जीव और जड़ प्रकृति उसके धीर, मौन,

उद्दाम, उन्नत और तीव्र मानव-मर्मस्पर्शी मानवात्मा को एकदम उद्बुद्ध कर देते हैं तब यही प्रेरणा जागृति स्वरूपा होती है। और इस जागृति के भाव को स्थायी रखने की चेष्टा करना ही साधन है व मुक्ति के लिये अपेक्षा करना है। दूसरे शब्दों में जगत् के श्रेष्ठ-सुख या आनन्द की अभिज्ञता प्राप्त करना यह भी मोह बन्धन से छूटने का साधन है। माया ममता से मुक्त मनुष्य बहिर्जगत् के प्रति निष्काम हो उठता है—इसीलिये उसे आनन्द स्वरूप कहा है। उसे प्रकृति के बन्धन से मुक्त, दिग्विजय की महायात्रा का पथिक बताया है। जीवन के इस शुभ मुहूर्त्त के लिये प्रत्येक मनुष्य को उद्योगी होना आवश्यक है। जो प्रकृति के संकेतों के प्रति अवज्ञा भाव का पोषण कर रहे हैं उन्हें इहलोक और परलोक दोनों में से किसी एक की भी चिन्ता नहीं है। इसका परिणाम कितना भयङ्कर है उसे हम वर्त्तमान मानव संसार के द्वेष द्वन्दमय जीवन पर से देख ही रहे हैं। मोह निद्रा और मृत्यु से जागृति ही जीवन है। जीवन के कल्याणार्थ मोह से जागना आवश्यक है। प्रकृति हमें हर घड़ी और हर समय जगा रही है। प्रकृति की पुकार सुनने से ही हम श्रेष्ठ-सुख को प्राप्त कर सकते हैं। यही मुक्ति-तत्त्व है।



उपहार

[लेखक—श्रीयुत उमादत्त नैथाणी साहित्यरत्न, प्रभाकर]



सुख लिये संसार आता
दुख भरा अभिसार अंतिम।
नित उदय का अस्त होता
पूर्ण विधु घट त्रस्त होता।
आज खो कर कल बदलता
भूत फिर मध्यस्थ होता॥
और फिर बीती कहानी
खोजती आधार अंतिम॥१॥
बह चली आशा नदी पर
क्या मिला भव सिंधु खारी।
स्वप्न की सी कल्पना के
भार से मस्तिष्क भारी।
रूप अपना देखते ही
है विजय भी हार अंतिम॥२॥



* वीर पुत्र भरत *

[ले०—कविवर श्री पं० रामकिंकर भगवान् वल्लभ पाण्डेय]

जब भरत ने राम को गृह में न देखा
और देखी यत्र तत्र विषाद रेखा
मार्ग में ही अपशकुन सब मिल चुके थे
भाव भी उनके वहीं पर हिल चुके थे
किन्तु गृह की ओर से संभावना यह—
थी नहीं उनके हृदय में भावना यह
आज मानों सूर्य ही तम से घिरा था
या कि सहसा चन्द्र भूपर आ गिरा था
आज क्यों सर्वत्र यह अवसाद फैला ?
और क्यों वातावरण भी है विषैला ?
वह भवन जिसकी कहीं उपमा नहीं थी
और जिसकी सी कहीं सुषमा नहीं थी
ज्योति से जिसकी भुवन भास्कर लजाते
कीर्ति जिसकी देव दानव सतत गाते
चन्द्रिका साकेत पर जो व्याप्त रहती
आज क्यों थी भरत का वह हृदय दहती ?
क्या हुवा सहसा अरे यह हास कैसा ?
मुक्त नगरी पर पड़ा यह पाश कैसा ?
सकुच वे सहसा गये यह दृश्य लख के
और पूछा कैकई से धैर्य रख के
"माँ ! कहां हैं वन्दनीय पिता हमारे—
और राघव तथा लक्ष्मण प्राण प्यारे ?"
मौन क्यों हो, शीघ्र बोलो बात क्या है—
और यह प्रलयंकरी सी घात क्या है ?
तब कहा यों कैकई ने हास करके
यथा अपने तनय पर विश्वास करके
"वत्स ! मैंने कुशल चाही थी तुम्हारी
किन्तु कुछ उससे हुई हानी हमारी
चाहते थे राम को नृप राज देना
पर मुझे भी था यहां कुछ भाग लेना
राम की माँ ने चली थी कूट नीती
किन्तु उसकी चाल उस पर आप बीती"
सुन रहे थे भरत पर वश में नहीं थे
या कि वह अन्यत्र ही मन से कहीं थे
पुनः बोली कैकई विष वमन करती
भरत में भी आप जैसे भाव भरती
वत्स ! यह षड़यन्त्र भी था, हास भी था
वरद् आशिर्वाद भी था, नाश भी था.
राम का श्रेयस तथा सम्मान भी था
भरत का बन्धन तथा अपमान भी था
ध्येय कोशलनन्दिनी का पूर्ण भी था
और भाग्यस्तूप मेरा चूर्ण भी था
था यहां छल छिद्र ऐसा क्या कहूं मैं
यह प्रयोजन था कि अज्ञ बनी रहूँ मैं
राव ने मुझसे न पूछा इस विषय में
पूछते भी क्यों गरल जो था हृदय में ?
यह हुवा, अभिषेक का भी समय आया
और मेरे भाग्य ने मुझसे बताया
मंथरा ने इस दिशा में की सहाई
बात बिगड़ी वत्स ! उसने ही बनाई
स्मरण दो वरदान उसने ही कराये
जो कि इस संकट समय में काम आये,
सोचते थे भरत यह क्या कह रही है
आज उलटी जाहवी क्यों बह रही है
क्या कहा यह और अब यह क्या कहेगी
क्या यहां कुछ और ही होकर रहेगी

वहां उनकी देह दहती जा रही थी
इधर यह सानन्द कहती आ रही थी
पूर्व से नृप के वर-द्वय पास ही थे
और मेरे इस समय सब कुछ वही थे
पूर्ण करने की दृढ़ाशा प्राप्त करके
सर्वथा विश्वास भी पर्याप्त करके
कहा नृप ने माँग लो तुम अभिलषित सब
वत्स! यह वरदान मांगे भूप से तब
प्रथम वर से भरत कल ही राज्य पायें,
दूसरे से राम प्रातः विपिन जायें
और यदि पूरा न अपना प्रण करोगे
मैं मरूंगी और तुम अपयश भरोगे,
राम का वनवास सुनकर राव डोले
और सहमे हृदय से यों पुनः बोले
माँग ले अतिरिक्त इसके जो कि प्रिय हो
क्यों न वह सुरलोक का सीमित अमिय हो
राज्य पायेंगे भरत कल क्या अभी ले
और जो इच्छित तुझे हो वह सभी ले
किन्तु क्यों बनवास देती राम को यह
और दारुण त्रास देती धाम को यह
है यही तात्पर्य नृप ने कहा जी भर
और मैं सुनती रही सब श्वांस पीकर
किंन्तु मैंने लक्ष अपना नहीं छोड़ा
राव की सुनकर तनिक भी मुंह न मोड़ा
राम जब जाने लगे वन को सकारे
साथ सीता चली लक्ष्मण भी पधारे
और उनके विरह में छाई उदासी
भूप भी सहसा हुवे सुत! स्वर्गवासी
शोक यद्यपि है तदपि अब दुख न मानो
और यह साम्राज्य अपना वत्स! जानो
राज्य अब भोगो यही है साध मेरी
इधर छाई भरत के आगे अंधेरी
त्वरित ही कंपित हुई उत्तप्त काया
क्रूर काल कराल सा बस रोष छाया
श्वांस से ही कैकई के प्राण डोले
गरज सन्मुख सिंह से यों भरत बोले—
सुन चुका हूँ आस तेरी साध तेरी
बोल! बतलाऊं कि क्या है साध मेरी
सरल राघव भी हुवे जो शत्रु तेरे
फूटने थे भाग्य यों बस आज मेरे
राम बन को गये लक्ष्मण भी वहीं हैं
जगद्वन्द्या मैथिली माँ भी नहीं हैं
ले मुझे भी मारकर आनन्द कर तू
याकि जाकर पंक में बस डूब मर तू
तात को छलते तुझे लज्जा न आई
क्रूरकर्मा! क्यों न धरणी में समाई
राम को वनवास मांगा इसी मुख से
मारकर पति को रहेगी आज सुख से
हाय! क्यों तूने न समझा और बूझा
क्या कहेगा जग, तुझे यह भी न सूझा
राम जो इस विश्व में आनन्द भरते
शत्रु तक जिनको हृदय से प्यार करते
भेजकर उनको विपिन में मौन है तू
निर्दये! बतला निराली कौन है तू
तात हों दशरथ, तथा हों राम भ्राता
और तू हो उस भरत की हाय! माता
जो किया तूने बहुत अच्छा किया है
मनुज जीवन सफल अपना कर लिया है
बस तभी उस ओर से ली फेर देही
बिलख कर रोने लगे वे रामस्नेही



मोती

लेखक—श्री पं० बालकृष्ण शर्मा धर्मालंकार
प्रधान मन्त्री अ० भा० सनातनधर्म युवक मण्डल

(१) मस्तिष्क में बल है। परन्तु केवल मस्तिष्क से विचारी हुई बात अपनी सीमा तक ही सीमित रहती है। अनुभव का आधार लेकर मस्तिष्क से विचारी हुई बात एक विशाल परन्तु निश्चित सीमा तक प्रभाव डाल सकती है परन्तु आत्मा का साक्षात्कार करके हृदय और मस्तिष्क से निकली हुई बात सर्व हितकारी, सत्य, उपयोगी और अचूक होती है।

(२) मनुष्य चाहे तो बड़े बड़े महल खड़े कर सकता है धन, बल, विद्या, सुख आदि के पदार्थ प्राप्त कर सकता है परन्तु आन्तरिक शांति प्राप्त करना इन सबसे दुष्कर कार्य है। वह मनुष्य-कृत नहीं। मनुष्य के प्रयत्न भी इसे नहीं पासकते। देवकृपा, संस्कार, गुरुकृपा, साधन और धैर्य्य से अनुभव द्वारा शनैः शनैः आंतरिक शांति मिलती है। उसके सामने तीनों लोकों की सम्पत्ति धूल है।

गो धन गज धन बाजि धन और रतन धन खान।
जब आवे संतोष धन सब धन धूल समान॥

(३) धर्म प्रचार क्यों नहीं होता ? इसका कारण है आचरण की कमी। बड़े बड़े विद्वान्, मंडलेश्वर साधु, महात्मा, महंत, पंडित, सेठ अपना अपना बस्ता और दुकानदारी लेकर आसन जमाते हैं। धर्म के नाम पर कीर्ति, कंचन, सुख और सहानुभूति की आशा, मृग तृष्णा से भी अधिक दुःखदायी है। उस में धर्म का लेश भी नहीं परन्तु आज धर्म प्रचारकों को धर्म का भ्रम हो गया है। सब अपनी अपनी कहते हैं। फिर धर्म की सत्यता का प्रचार कैसे हो ?

(४) अन्ध विश्वासी भक्तों स्त्रियों और बालकों को धर्म की उलटी सीधी बात बताकर धर्मोपदेशक मत बनो। धर्म के सच्चे स्वरूप को समझ कर उसका आचरण करना और कराना ही जीवन का उद्देश्य है। आत्मप्रेरणा, आत्म रति और आत्मानन्द मिथ्याचार से बहुत दूर हैं। उनका निवास सदाचार के ऊँचे टीले पर रहता है और वहीं उनका दर्शन होना सम्भव है। व्यर्थ भटकने से क्या लाभ।

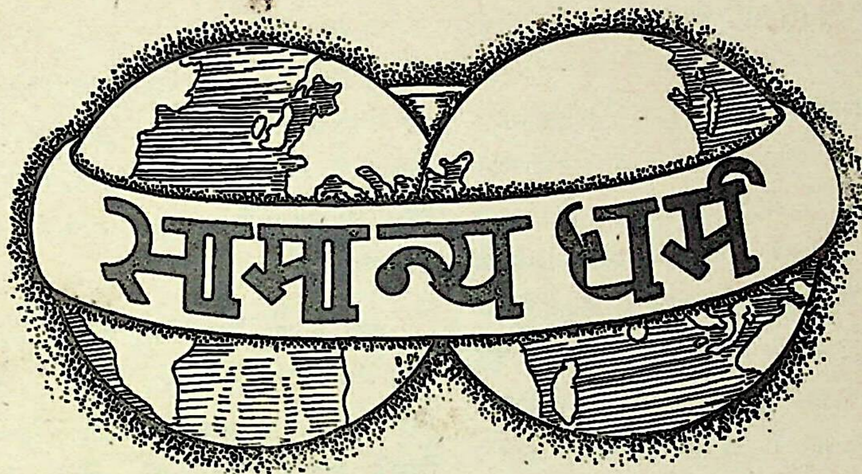
(५) संसार में अनन्त ज्ञान है, कण कण में रहस्य भरा हुआ है। एक जन्म में तो क्या जन्मजन्मान्तर पुरुषार्थ करने पर भी ज्ञान की सीमा पर पहुंचना कठिन है। ज्ञान के भण्डार भगवान्

शंकर ने एक बार स्वामी कार्तिकेय और गणेश आदि देवताओं से कहा कि जो सबसे पहिले विश्व की परिक्रमा करके आयेगा वही देवताओं में सर्वप्रथम पूजा जायगा। सब देवता पृथ्वी की परिक्रमा करने चल दिये परन्तु गणेश जी ने भगवान शंकर की परिक्रमा करके कहा कि सारा ब्रह्माण्ड आप में है और आप ब्रह्माण्ड में हैं। अतः आपकी परिक्रमा ब्रह्माण्ड की परिक्रमा हो गई। बस इतना सा ज्ञान होने से ही मानव भी पूज्यनीय हो सकता है। भगवान में सारा जग चराचर है और जग चराचर में भगवान हैं। कहीं ऐसा स्थान नहीं जहाँ उससे बचकर या उसकी दृष्टि बचाकर रह सको। पाप और पुण्य जो भी तुम करते हो, भगवान देखता है इसलिये जो कुछ करो वह उसे हाजिर नाजिर समझकर करो ऐसा करने से विश्व का सारा ज्ञान सुख सम्पत्ति आप ही आप बिना बुलाये तुम्हारे पास आ जायँगे।

(६) जीवन बहुत छोटा है और काम बहुत करना है। इस लोक की यात्रा करनी है परन्तु समय बहुत ही कम है। देखना सब कुछ चाहते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि क्या देखें और कैसे देखें। रास्ता कौन सा पास का है इसका भी ज्ञान नहीं। ऐसी दशा में एक (गाइड) पथ-प्रदर्शक ले लेने से बहुत कुछ काम कम हो जाता है। संसार यात्रा के लिये योग्य अनुभवी पथ-प्रदर्शक चुन लो—परमार्थी, निपुण, पुण्यात्मा, विद्वान गुण और शक्ति सम्पन्न गुरु ही पथ-प्रदर्शक है।

(७) वह सच्चिदानन्द आनन्दकन्द पर ब्रह्म परमात्मा अनेक रूप धारण करके हमारे सम्मुख आता है। कभी मित्र रूप में, कभी शत्रु रूप में, माता, पिता, बन्धु, स्त्री, पति, पुत्र सेवक सब रूपों में वही है। अतः सबके साथ यथा योग्य व्यवहार करना मानवधर्म है। जिस समाज में प्रत्येक व्यक्ति भिन्नता के भेद-भाव से देखा जाता है वह मनुष्य तन में बसे हुए परब्रह्म को न जानने के कारण उसकी अवज्ञा और अवहेलना करके स्वयं दुखी होता है और संसार को दुःखपूर्ण बनाता है। जगत् में शांति स्थापित करने का एकमात्र उपाय मनुष्य तन में रहने वाले परमात्मा को पहिचानना है।





दिव्य भवन के बोलते हुए खंडहर

[लेखक—श्रीयुत राजनारायण शर्मा साहित्य विशारद]

आज सम्पूर्ण विश्व में अत्यन्त भयावह तथा यातना युक्त दुर्व्यवस्था व्याप्त हो रही है। मानवीय जगत घोरतम संघर्ष में लिप्त है। प्रतीत होता है कि युद्ध की भयंकर ज्वाला सारे संसार को भस्मीभूत करके ही दम लेगी। चारों ओर मृत्यु का आतंक और दुर्गम साम्राज्य छाया हुआ है। अबलाओं का मूक मर्म भेदी करुणा क्रन्दन, विलखते शिशुओं का आर्तनाद, प्रबल राष्ट्रों द्वारा निर्बल राष्ट्रों का शोषण, बलात्कार द्वारा घोरतम अत्याचार, एक जाति द्वारा दूसरी जाति का संहार, अनाज तथा अन्य मनुष्योपयोगी वस्तुओं का अभाव, न होने पर भी उनकी प्राप्ति में महान् कठिनता, धार्मिक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक विद्वेष केवल मनुष्य समाज को ही जर्जरित नहीं कर रहे वरन् प्राणि-मात्र इनसे अछूता नहीं बचा है।

आधुनिक युग में लाखों नहीं अपितु करोड़ों मनुष्य कारागार में कठिन यंत्रणायें भोग रहे हैं, अथवा यों कहना चाहिये कि सम्पूर्ण जगत् एक बन्दीगृह बन गया है। पशुओं, पक्षियों, कीट-पतंगों तक को अपना स्थान त्याग कर अज्ञात वास की शरण लेनी पड़ी है। अन्ततोगत्वा इन सब दशाओं का जो कुपरिणाम भविष्य के गर्भ में गुप्त है, वह विचारमात्र से ही महा प्रलय का साक्षात् दृश्य है।

यह बात नहीं कि संसार के आधुनिक विद्वान् इन समस्याओं को सुलझाने और इन नारकीय नाटकों का अन्त करने की चेष्टा न कर रहे हों! परन्तु आधुनिक युग, नवीन पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का पुजारी बना हुआ इन कठिनाइयों को पार करने का अथक परिश्रम कर रहा है और ज्यों ज्यों वह इनसे निकलने की चेष्टा करता है त्यों त्यों दल दल में फँसता जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि आखिर हम इन समस्याओं का अन्त कैसे करें? इसका उत्तर सारे विश्व को भारत के आदर्श स्वरूप धर्म की नींव पर स्थापित

प्राचीन ऋषियों द्वारा निर्मित दिव्य-भवन के बोलते हुए खंडहर देंगे।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि- जब जब सामाजिक शृंखला अनियमित रूप से यत्र तत्र टूटने लगती है, तबही समाज में विद्रोह उठने लगता है। कुछ विद्वानों का मत है कि सुन्दर राज-व्यवस्था समाज में शान्ति स्थापित करती है, कुछ यों कहते हैं कि समान आर्थिक-व्यवस्था सुख शान्ति की मूल है। परन्तु प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण सामाजिक संगठन को शान्ति का आधार मानता है।

अति प्राचीन भारत में राज्य केवल नाममात्र को ही था, वरन् यों कहना चाहिये कि नहीं के समान था। अतीत में राज्य की कोई आवश्यकता न थी सम्पूर्ण मानव संसार शास्त्रोक्त विभागों में विभक्त था और सब अपना कार्य सम्पादन करने में कुशल थे। राज्य की आवश्यकता तो मनुष्य को तब होती है जब नियमित व्यवस्था का उल्लंघन होने लगता है और बलात्कार द्वारा मनुष्य को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा की जाती है। राज्य मानव दुर्बलताओं का प्रतीक है।

अब रहा आर्थिक आधार? उसका प्राचीन मनुष्य व्यवस्था में कोई विशेष महत्व नहीं। यह तो नवयुग की जड़वादी सभ्यता की उपज है। कुछ लोगों का कहना है आधुनिक काल में प्राचीन व्यवस्था उपयुक्त नहीं हो सकती। यह तो सोचना मात्र भी सरासर भूल है। जो सामाजिक सिद्धान्त ऋषियों ने प्रतिपादन किये हैं, वे सर्वदेश और सर्वकाल में सत्य हैं। यह अन्य बात है कि देशकाल के अनुसार ऋषि प्रणीत सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक-व्यवस्था में परिवर्तन होता रहे, पर मौलिकता की अवहेलना नहीं की जा सकती। किसी चीज के पुराने होने पर दूसरी पालिश की जा सकती है जिससे वह अधिक सुहावनी हो जाय, परन्तु वह तोड़ी नहीं जा सकती। यदि किसी वासस्थान का ऊपरी भाग अयोग्य हो जावे तो उसे पुनः निर्माण किया जा सकता है परन्तु दृढ़ नींव को खोद डालना उचित नहीं।

अब केवल देखना यह है कि सत्य सनातन काल में किस प्रकार मनुष्य समाज को सुव्यवस्थित विशाल भवन के रूप में निर्माण किया गया था जिसके खंडरों में आज भी पूर्ण तेज है? सबसे प्रथम कुशल निर्माणकर्त्ता ऋषियों ने लोह और पाषाण से भी दृढ़ धर्म की आधार नींव स्थापित की। प्रत्येक मनुष्य उस भवन की एक एक ईंट था, अर्थ या धन का उस भवन में मसाला लगाया गया और राज्य को उसकी छत और चूना क़लई इत्यादि बनाया गया। यही था वह भवन जो भारत में आज तक दृढ़ रूप से स्थित है। यद्यपि इसका ऊपरी भाग जर्जरित है परन्तु थोड़े से सुधार से ही वह पूर्व रूप को प्राप्त हो सकता है।

हमको सबसे गहरी दृष्टि उस धर्म पर डालनी पड़ेगी जिसके आधार पर इतना सुन्दर विशाल भवन निर्माण किया गया था जो आज भी विकराल आँधियों, वर्षाओं और भूचालों के पश्चात् हिमालय की भाँति अचल खड़ा हुआ है।

सबसे प्रथमः—यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिससे दोनों लोकों में सर्व प्रकार की सुख समृद्धि और कल्याण हो वही धर्म है। बाल गंगाधर तिलक कृत गीता रहस्य में धर्म की व्याख्या इस प्रकार है किः—

धारणाद् धर्म मित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।

जो पृथ्वी और प्रजा को धारण किये हुए है अथवा जिससे सम्पूर्ण जगत् नियम बद्ध रहे वही धर्म है। धर्म की इस शक्ति का अनुभव पाठकों को मनु कथित लोक प्रसिद्ध धर्म के दस चिन्हों से भी प्रकट हो जायेगा। सर्व देश, काल और सम्प्रदाय में सार्वभौम दस लक्षण धर्म के मान्य हैं, इनके बिना संसार का कोई भी प्राणी सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। हिन्दू, जैन, सिक्ख, पारसी, ईसाई, मुसलमान, ईरानी, यूनानी, जापानी, अमरीकन, जर्मनी, रूसी आदि कोई भी क्यों न हो, क्या कोई भी धर्म मनु-प्रोक्त इन दश लक्षणों को मानने से इन्कार कर सकता है ?

धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौच मिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धैर्य्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध यह दश धर्म के लक्षण हैं, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के व्यावहारिक जगत से है। 'मानवधर्म' के 'धर्मांक' में इन दश धर्म के लक्षणों की व्याख्या पूज्य 'दिनेश' जी ने भली-भाँति करके पाठकों के सामने उपस्थित की है।

पाठकों ने भवन की नींव की दृढ़ता पर भली भाँति विचार कर लिया, अब चहार दीवारी को भी देखना है जिसके बनाने में हमारे कुशल कार्यकर्ताओं ने अपनी बुद्धि का अनुपम परिचय दिया है। सत्य सनातनधर्म के संचालकों ने मानव समाज को चार भागों में विभक्ति किया है :— ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र। वेद में कहा गया है कि :—

ब्राह्मणोऽस्य मुख मासीद्, बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

हमारा शरीर एक समाज है उसके अंग प्रत्यंग वर्ण और जातियां हैं। समाज में चार प्रकार के कार्य हैं। १—विद्या अथवा ज्ञान सम्बन्धी। २—रक्षा सम्बन्धी। ३—अर्थ सम्बन्धी। ४—सेवा सम्बन्धी।

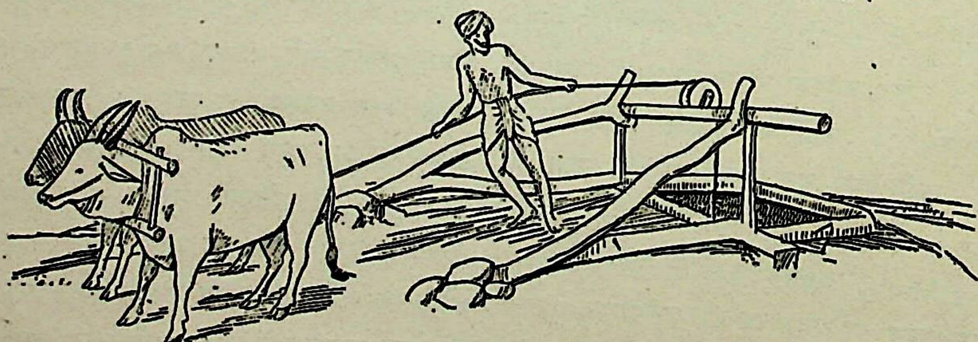
जिस प्रकार मुख ज्ञानदाता है उसी प्रकार समाज में विद्वान्, ज्ञानी शिक्षक लोग अपने जन्म और कर्म द्वारा ब्राह्मण हैं। भुजायें शरीर की रक्षा करती हैं संसार के समस्त कार्य हाथों द्वारा ही प्रतिपादित होते हैं। यदि कोई शिर पर आघात करने लगे तो हाथ शीघ्र ही उसकी रक्षा का प्रयत्न करेंगे। अतः बलवान, शक्तिशाली, राज्य-संचालक बाहुओं की भाँति दूसरा दल समाज में क्षत्रियों का है। जँघायें और वक्षस्थल के मध्य का भाग वैश्य हैं। ब्राह्मण (मुख) क्षत्री (भुजायें) शूद्र (चरण) यह तीनों मिलकर जो आहार सम्पन्न करते हैं उसे क्षत्री रूपी हाथ ब्राह्मण रूपी मुख को प्रदान कर देता है। और ब्राह्मण (मुख) सर्व आहार द्रव्य को वैश्य के कोष में संचय करता है। वैश्य का कार्य तीनों अंगों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, शूद्र द्वारा संचित धन कोष या आहार द्रव्य को अपने ही स्वार्थ में प्रयोग न कर जिस अंग ने जितना परिश्रम किया है उसी अनुपात से अथवा जितना जिस अंग को आवश्यकीय है उतना पुष्टि कारक रस नाड़ियों द्वारा उन अंगों को पहुँचाना और स्वयं भी अपनी आवश्यकतानुसार ले लेना अर्थात् सारे मानव समाज की संचित धन राशि और उपयोगी सामग्री का सत्य और न्याय द्वारा विभाजन करना और स्वयं अपने लिये भी उतना ही लेना जितना समान भाग में प्राप्त हो। यदि पेट स्वार्थवश अधिक आहार अपने पास रख ले तो उसका परिणाम अजीर्ण और रोग द्वारा विनाश ही होगा। वास्तव में वैश्य, समाज का कोषाध्यक्ष है

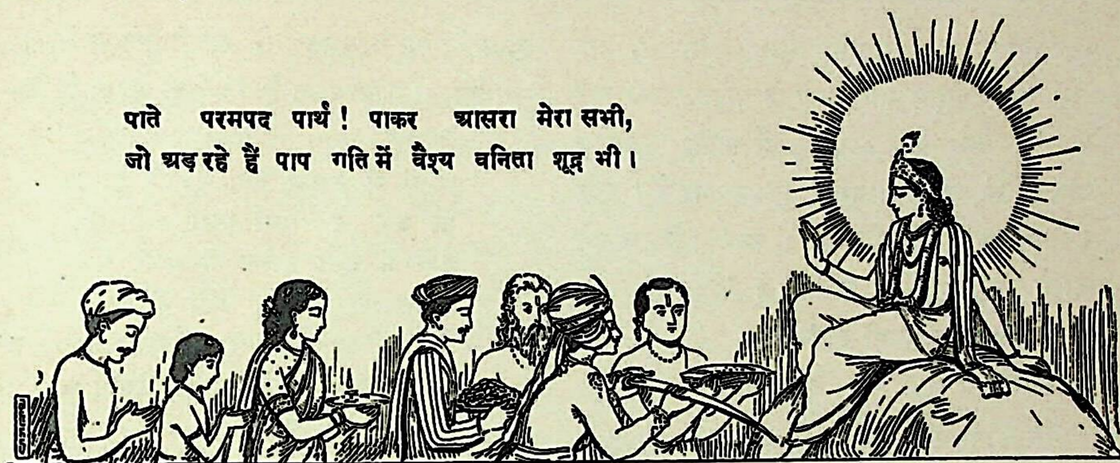
और उसका कार्य है कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि, जिनके द्वारा मनुष्य समाज का पोषण होता है। पैरों का कार्य है कि सारे शरीर को संचालन करता रहे और ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य जहाँ शरीरोपयोगी या समाजोपयोगी वस्तुयें प्राप्त करने की इच्छा करें वहाँ पैर (शूद्र) उन्हें ले जाय। यदि पैर अपना कार्य करना छोड़ दें तो सारा शरीर ही बेकाम हो जाये। अतः शूद्र का कार्य है कि तीनों वर्णों की सहायता करे। गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि:—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः

कुछ लोगों की यह धारणा सर्वथा निराधार है कि सनातन धर्म में ऊंच नीच का भेद भाव है। जिस प्रकार शरीर में प्रत्येक अंग अनुपयोगी व्यर्थ तथा बुरा नहीं उसी प्रकार वर्णों में भी कोई ऊंच नीच का भेद भाव नहीं। समाज को सर्व वर्ण समान हितकारी और उपयोगी हैं। परस्पर एक दूसरे की सहायता बिना समाज चल ही नहीं सकता न स्थिर रह सकता है। जिस अंग का जो कार्य है वह अपने स्थान पर उत्तम है इसी प्रकार समाज में सभी वर्णों का कार्य पवित्र तथा उत्तम है। सब ही वर्णों के लोगों को समान अधिकार हैं। जिस प्रकार अंग के किसी भाग को भी कष्ट होने पर पूरा शरीर उस कष्ट को महसूस करता है, इसी भाँति समाज में किसी वर्ण की अवहेलना नहीं की जा सकती। यही है हिन्दू संगठन का मूल-मंत्र, जो मनुष्य मात्र की सुख शांति का आदर्श और सर्व मान्य उपाय हो सकता है और जिसके द्वारा वर्णधर्म संसार के अन्य धर्मों की अपेक्षा आदर्श बना रहा है और बना रहेगा।

हाँ! अब यह तो निश्चय हो गया कि समाज का जो सुन्दर भवन हमारे ऋषियों ने निर्माण किया है, उसकी नींव अब भी उतनी ही दृढ़ है जितनी कि निर्माण करते समय। दीवारें कुछ जर्जरित हैं परन्तु वह भी थोड़ा सा सुधार करने से अपने पूर्व रूप को प्राप्त हो जावेंगी। अब केवल चूना, क़लई तथा छत की ऐसी दशा है जो बिल्कुल नष्ट भ्रष्ट है और उसका पुनः निर्माण ही करना पड़ेगा। यह काम हिन्दू समाज के चतुर संचालकों का है कि वह अपना तन, मन, धन न्यौछावर करके उस सुन्दर सुविशाल भव्य भवन की ओर देखें जो आज जर्जरित दशा में खड़ा हुआ उन्हीं की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहा है। आज भी उस दिव्य भवन के बोलते हुए खंडहर कह रहे हैं कि घोरतम अग्नि-वर्षा में भी हम तुम्हारी रक्षा कर सकते हैं परन्तु तुम हमें उस दशा में रखो कि जिस दशा में हमारा निर्माण पूर्व महान् पुरुषों द्वारा किया गया था।





परमगति

बहुत कुछ विचार करने पर मैंने यही निश्चय किया कि दुनियां तो दुखों से भरी हुई है इसमें सुख कहाँ और फिर—

जिसे ज़िन्दगी बबाल हो, उसे क्यों न जीने से आर हो।
जो नाउम्मेदियों में घिरा, उसे कैसे सबरोकरार हो ?

मैं घर से चल दिया। साहस पूर्वक कदम आगे रखता था, पर पैर उठते नहीं थे। मैं चल रहा था या पैरों के नीचे से जमीन निकल रही थी यह कहना कठिन है। नगर से बाहर होते ही मुझे मालूम पड़ा मानो कोई मेरा पीछा कर रहा है। मैं ठहरा, एक ध्वनि मेरे कानों में पड़ी, कोई मस्त होकर गा रहा था

जा रहा किस ओर ?
गोल है दुनिया नहीं इसका कहीं भी छोर।
ताड़ तिल की ओट में है क्यों हृदय में शोर॥
जा रहा किस ओर ?

इधर उधर देखा परन्तु कोई नहीं दिखा। ध्वनि की लकीर पकड़ कर मैं उस ओर बढ़ा, अब आवाज पीछे से आने लगी—

ज्ञात हो अज्ञात सारा हो हृदय में भोर।
जग चराचर में समाया देख नन्द किशोर॥
जा रहा किस ओर ?

दशों दिशाओं में घूमने पर भी मैं नहीं जान सका कि यह संदेश देनेवाला कौन है। किधर जाऊँ क्या करूँ ? फिर आवाज सुनी—

मरण जीवन और सुख दुख द्वन्द सिन्धु हिलोर।
रम रहा निर्द्वन्द हो कर चित्त ही में चोर॥
जा रहा किस ओर

समझ से बाहर की बात थी, भय, थकान और आश्चर्य के भार से थक कर मैंने एक वृक्ष का सहारा लिया और लेट गया।

× × ×

महात्माजी आगे आगे जा रहे थे और मैं पीछे पीछे। मैंने कहा, 'गुरुदेव ! कहाँ चलोगे ?'

'उन्होंने कहा नगर में।'

'नगर से तो मैं भाग कर आया हूँ'

'क्यों ?'

'वहाँ के वातावरण में, अनन्त परिश्रम, हाय हाय, निराशा, दुख और माया के परिवार का भार लेकर मैं चल नहीं सकता। मैं मुक्ति चाहता हूं गुरुदेव ! संसार तो नश्वर है दुख का घर है। मुझे परम-गति का रास्ता दिखाइये। उधर न ले चलिये जहाँ से पीछा छुड़ा कर मैं आया हूँ।'

'परम-गति तो वहीं है।'

'संसार के झंझटों में परम-गति ?'

मैंने कौतूहल से महात्मा के मुख मंडल को देखा और उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—

हां ! बेटा मरने के बाद की गति को कौन जाने पहले जीवन में ही उस परम-गति को प्राप्त करो। उसे प्राप्त करने का स्थान यह संसार ही है।

'बाबा ! यहाँ तो बड़े बड़े खिलाड़ी गोता खा जाते हैं। कामिनी, कंचन, काया और त्रिगुण मयी माया—यही तो संसार है, इसे त्यागे बिना मुक्ति की खोज विष में अमृत की खोज के समान व्यर्थ है।'

'कामिनी, कंचन और काया में भी तो भगवान् हैं ? उनकी इतनी अवहेलना क्यों ?'

प्रियतम की छवि मन मंदिर में अंकित हो।
उसका गुण गौरव स्वांसों में झंकृत हो॥
मन मग्न रहे उसका आलिंगन कर के।
सुख से विचरे प्रिय को प्राणों में भर के॥
मन, वचन, कर्म से जो उसका होता है।
भव सागर में वह कब खाता गोता है॥

तुम्हारा काम इतना ही है कि तुम विश्व में व्यापे हुए भगवान् का दर्शन कर लो। संसार के वातावरण में सुख में दुख में, परिश्रम में, थकान में, आशा में, निराशा में भगवान् की मधुर मूर्ति सामने रहे तो यही मुक्ति के साधन बन जाते हैं। संसार से डरो मत, डरने वाले के लिये इसका मायावी स्वरूप है, परन्तु इस पर साहस से खेलनेवाले के लिये यह भगवान् का क्रीड़ा-स्थल है, खिलाड़ी कहता है कि—

मैं जहाँ देखता हूं प्रियतम है मेरा।
आँखों में उसका तना हुआ है डेरा॥
मैंने देखा है गली गली हाटों में।
कुंजों में देखा सरिता में घाटों में॥
दीवार दरों में और घरों में देखा।
दिल में 'दिनेश' खिंच रही उसी की रेखा॥
आकाश तुल्य उसने जग को घेरा है।
मैं जहाँ देखता हूं प्रियतम मेरा है॥

प्रियतम के साथ खेलने में आशा-निराशा, सुख-दुःख, कहाँ ?'

मैं कुछ भी नहीं समझ सका। बाबा की बातें सुन रहा था। मैंने कहा कि,—मुक्ति के लिये तप, दान, यज्ञ करने अनिवार्य हैं, और यह कुछ न हो तो वैराग्य का आश्रय लेकर त्याग करना चाहिये। आपका तो रास्ता ही और है।

महात्मा बोले - बेटा ! तप तो मन, वचन और कर्म की पवित्रता में है, प्राणिमात्र की सेवा सबसे बड़ा तप है। ब्रह्मचर्य, मन की साधना, सरलता, मीठी वाणी में जो तपस्या है वह एकान्त में बैठ कर नहीं होती। एकान्त तो एक निश्चित अंत पर अर्थात् निर्णय पर पहुंचकर उसी में मन लगा देने का नाम है। जहां शांति के आत्म सदन में इन्द्रियों का कोलाहल नहीं पहुँचता वहीं एकान्त है। वहीं जप तप ध्यान आदि साधनों की सुन्दर भूमि है। उस अलख को लख कर उसके विराट् विश्व-स्वरूप की सेवा ही यज्ञ है। मानव क्षेत्र रूप यह शरीर ही इस यज्ञ की वेदी है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से जुड़ा हुआ चार कोनों का कुंड है। ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित होते ही इसमें अनुभव की आहुति पड़ने लगती है। कर्म कुशलता के

मंत्रों से प्रसन्न होकर देवता अमृत आनन्द स्वरूप मुक्ति प्रदान करता है। फलाशा के त्याग से बड़ा कोई वैराग्य नहीं। संसार में रहकर सेवा और प्रेम के सहारे दूसरों के लिये अपना जीवन अर्पण कर देना ही वैराग्य है। वैरागी बनकर संसार से भागकर कहाँ जाओगे। आचरण का अच्छापन या बुरापन, वैराग्य या आसक्ति अन्तःकरण का भाव है। संसार छोड़ कर जंगल में घर बनाने पर भी यदि आशा तृष्णा लगी हुई है तो वैराग्य और मुक्ति विडम्बना मात्र है। बेटा आज कितने ही नामधारी वैरागी, साधु, सिद्ध संसार को छोड़ने का मिथ्याचरण करते हैं। नित्य नैमित्तिक कर्मों और गृहस्थ संचालन को बन्धन समझकर अपने व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ के लिये स्वांग बनाते हैं। परन्तु—

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानुः
रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः।
करतलभिक्षा तरुतलवास-
स्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।
अग्नि सूर्य से तप दिन जाते।
घुटने मोड़े रात बिताते॥
बसे वृक्ष तल, लिये भीख धन।
किन्तु न छूटा आशा बन्धन॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।
जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः
काषायाम्बरबहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि च न पश्यति लोको
ह्युदरनिमित्तं बहुकृतशोकः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।
जटा बढ़ाई, मूंड मुंडाये।
नोचे बाल, वस्त्र रंगवाये॥
सब कुछ देख न देख सका जन।
करता शोक पेट के कारण॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।

इस प्रकार आशा तृष्णा पेट का पिट्टन और शोक रहा तो वैराग्य कैसा!"

बात करते करते हम नगर में पहुँच चुके थे। वही दुर्दशा का भयावह चित्र फिर सामने आ गया मुझसे न रहा गया। मैंने कहा बाबा—

"आज होता है जगती पर
विषमता का कितना आभास।
कहीं प्रलयंकर तांडव-नृत्य
कहीं होता लीलामय रास॥
कहीं जगमग अट्टाल विशाल
छू रहे हैं उठकर आकाश।
किये ऊँचा गर्वीला भाल
मनाते नित्य नया मधुमास॥
दूसरी ओर करुण क्रन्दन,
निराशा भूख तृषा का त्रास।
हड्डियों का केवल कंकाल,
ताप से सूखा तन का मास॥
संकुचित सड़े मलिनता भरे,
घरों में घुटते उठता स्वांस।
परिश्रम करके भी भरपूर
नहीं मिलते सुख से दो ग्रास॥
नियंता की समता का आज
विषमता करती है उपहास।
करे कैसे कोई विश्वास
जगत में है जगपति का वास॥

बाबा ने कहा, 'बेटा! भगवान् सब प्राणियों की समान रूप से सहायता करते हैं। कोई तो भगवान् की कृपा का उपयोग करके बराबर उन्नति करता रहता है और कोई उसकी अवहेलना करके अपने आपको गिरा देता है। जैसे सूर्य की किरणें छोटे बड़े धनी दरिद्री सबके घरों पर समान रूप से पड़ती हैं परन्तु जिसके घर का दरवाजा पूर्व की ओर है उसमें पहिले प्रकाश पहुंचता है अथवा जो बहुत ऊँचा है वहाँ से पहिले सूर्य दिखाई देता है

इसी प्रकार भगवान् की तरफ मुख किये रहनेवालों के पास भगवान् की कृपा पहिले पहुँचती है। जैसे अग्नि के पास बैठने से जाड़ा कम लगता है इसी प्रकार भगवान् के पास बैठने से संसार भय की कँपकपी दूर हो जाती है। वह सच्चिदानन्द समभाव से सबके लिये समान है; उसकी दया का दरवाजा सबके लिये खुला हुआ है। उसने सम भाव से समस्त संसार की रचना की परन्तु मनुष्य ने अपना संसार बनाकर उसमें विषमता उत्पन्न कर दी। अपनी करनी से छोटे बड़े अच्छे बुरे बन जाने पर भी —

सदा वह जगपति दिव्य 'दिनेश'
कहा करता करके मृदुहास
अरे आ! मानव मेरी ओर
अभी है जीवन में अवकाश॥
दरिद्री दीन धनी श्रीमान्
सभी पर मेरी समता छाप।
मिटा कर उसे नरक या स्वर्ग
बना लेता है मानव आप॥

इसलिये यह विषमता तो अपने आप उत्पन्न की हुई है। जब मनुष्य की इन्द्रिय-लोलुपता, जड़वाद और अज्ञान से यह विषमता बहुत बढ़ जाती है, देहाभिमानी मानव अपने अहंकार से झूँठे सुख के लिये अधर्म का अत्यधिक आचरण करने लगते हैं, जब घोर अशांति फैल जाती है, धर्मात्माओं के गले घुटने लगते हैं। तव इन क्रियाओं का प्रत्युत्तर शनैः शनैः एक साकार स्वरूप धारण कर लेता है। अधर्म की सीमा टूट जाती है, पापों का कलश फट जाता है और पुण्य का प्रभात होता है। नरक रूप संसार स्वर्ग बन जाता है और उसमें निवास करनेवालों को परम-पद प्राप्त होता है।

बाबा की वाणी से मुझे एक विलक्षण शांति मिली, मेरे रोम रोम में आनन्द की स्फूर्ति सरसरा गई। मैंने कहा, "बाबा भगवान् आकर इस विषमता का अन्त करेंगे तब यह संसार स्वर्ग बनेगा तभी इसमें रहना योग्य है, अभी से ही इसमें पिस कर प्राण खोना तो बुद्धिमानी नहीं।"

"स्वर्ग वहीं है जहां विषमता नहीं रहती। जो विषमता का बन्धन तोड़ देते हैं वही मुक्त हैं। भगवान् कहीं दूर तो नहीं हैं जो चल कर आते हैं। वे तो सदा उनके साथ हैं जो आत्म स्वतंत्रता के प्रयत्न में रहते हैं, उन्हीं में से प्रकट हो कर भगवान् पापों का अंत करते हैं।"

"विषमता का बन्धन कैसे तोड़ा जाय?"

"आचरण की पवित्रता, सदाचार, समव्यवहार और कर्म योग के द्वारा मानव धर्म के पालन से विषमता स्वयं ही मिट जाती है। यही परमगति की अवस्था है।"

"परम गति किसे कहते हैं?"

"साधारणतया समझा जाता है कि मोक्ष मिल जाने का नाम परम गति है। गति का अर्थ है— चाल, दशा, ज्ञान, गमन, मुक्ति. और परम का अर्थ है—प्रथम, सबसे उत्तम, इस प्रकार परम गति का अर्थ हुआ, सबसे अच्छी दशा, सबसे उत्तम ज्ञान, सर्वोत्तम मुक्ति। इस मुक्ति के लिये कहीं जाना नहीं पड़ता और न ऐसा है कि मरने पर ही यह मुक्ति हो।"

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति॥ बृह०

उसके प्राण किसी दूसरे स्थान में जाकर मुक्ति नहीं पाते, बल्कि यहीं नित्य ब्रह्ममय होकर ब्रह्म में मिल जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि इस मुक्ति का स्वरूप क्या है? और जीवन में मुक्ति के लक्षण क्या हैं?

मानव देह विचार समुन्नत
उन्नत उज्ज्वल वंश कुलीन हो।
तात सुबन्धु सनेही सपूत
सुसेवक प्रेयसी प्रेम प्रवीन हो॥
शारद श्री सत्संग रहे नित
स्वास्थ्य, स्वधर्म सुबुद्धि न क्षीन हो।
कर्म उपासना ज्ञान 'दिनेश' हो
तो जन जीवित मुक्ति में लीन हो॥

मुक्ति केवल मनुष्य देह में ही मिलती है और वह भी उस समय जब उच्च विचार हों। छोटे संकुचित विचारवाला मनुष्य कभी मुक्ति नहीं पा सकता। उन्नतिशील वंश हो, प्रतिष्ठित कीर्ति-सम्पन्न घराना हो तो मुक्ति के साधन आसानी से जुट जाते हैं। इसी कारण भगवान् ने कहा है कि—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते

योग का साधन करते हुए देह त्यागनेवाला पुरुष पवित्र श्रीमानों के कुल में जन्म लेता है। और वहां फिर पूर्व संस्कारों से उन्नति की ओर अग्रसर होता है। इसलिये मुक्त वही है जो मनुष्य देह प्राप्त करके उच्च विचार, उन्नत वंश, सम्पन्न कुल प्राप्त कर ले, केवल इतना ही नहीं बल्कि माता, पिता, भाई बन्धु, मित्र, सेवक, स्त्री, पुत्र सब धर्म-मार्ग पर चलने वाले मिलें। बड़ों का सिर पर आशीर्वाद हो, बराबर वालों का निष्कपट, शुद्ध और प्रेम पूर्ण व्यवहार हो, छोटे आज्ञाकारी और प्रसन्नचित्त रहें। लक्ष्मी की कृपा हो, विद्या और ज्ञान हो, सत्संग का प्रेम हो, सुन्दर स्वास्थ्य हो, बुद्धि हो, कर्म योग में लगन, भक्ति और ज्ञान का आचरण रहे तो मनुष्य जीवन में ही परम-गति प्राप्त कर लेता है। परम-गति इसी का नाम है। जहां यह संसार सज्जनता के गुणों से सफल बना लिया जाता है, जहां इसके विकार दूर हो जाते हैं वहीं परम-गति है। मनुष्य चाहे ईश्वर को मानने वाला हो या न हो परन्तु वह इस परम-गति को जाने में या अनजाने में चाहने वाला होता ही है। इसके लिये प्रयत्न करता है, भटकता है, परन्तु पूर्णता को नहीं पाता। बड़े बड़े धनवानों में शांति नहीं होती, स्त्री पुत्र आज्ञाकारी नहीं होते, स्वास्थ्य में कमी रह जाती है अथवा जो तन्दुरुस्त हैं, जिनके स्त्री पुत्र आज्ञाकारी हैं उन पर लक्ष्मी की कृपा नहीं होती। जहां विद्या है वहां धन की कमी पड़ जाती है। यही सब विषमता और अपूर्णता है, इसके मिट जाने का नाम ही परम-गति है।'

"यह परम गति कैसे प्राप्त हो गुरुदेव?"

संसार के कोलाहल के बीच में भगवान् का मंदिर है। उस मंदिर में आचरण नाम का पुजारी रहता है। अन्य लोग तो प्रसाद ले जा ले जाकर भगवान् को चढ़ाते हैं परन्तु वह भगवान् से नित्य नया अनुभव का प्रसाद लेता है। उस प्रसाद में कुछ ऐसा गुण है कि जो उसे ग्रहण करता है उसी में परिवर्तन होने लगता है और परम-गति प्राप्त करने का साधन उसे स्वयं ही सूझने लगता है। उस मंदिर के भगवान् की यह प्रतिज्ञा है कि—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

क्रमशः

'दिनेश'



युद्ध का खेल

[लेखक—श्रीयुत जी० एस्० पथिक]

जीजी बाई का मस्तिष्क घूमने लगा। उन्हें वे पिछले दिन याद पड़े, जब कि सिंहगढ़ के किले पर भौंसले का केसरिया झण्डा फहराता था।

'जाओ, जितनी जल्दी तुम्हारा घोड़ा ले जाये, तुम रायगढ़ में पहुंचो, वहां शिवा मुगलों से भिड़ने की तैयारी करता होगा। उससे कहो कि, तुरन्त यहाँ पर आये।

× × ×

दिन बीतने के पहले एक छोटे क़द के सुदृढ़, बलशाली युवक ने जीजीबाई के भवन में प्रवेश किया और उनके सामने लेटकर चरणों में मस्तक रख दिया।

'उठो, मेरे पुत्र, मैं जानती थी कि, तुम आ जाओगे।' राजमाता जीजीबाई ने ये शब्द कहे और शिवाजी को अपने हाथों से थपथपाया।

'पर मां इतनी जल्दी किसलिए बुलाया ?'

'शिव, मैंने तुम्हें अपने साथ खेल में पांसा फेंकने के लिए बुलाया है।'

'मां, आप के साथ ? पर मैं खेल में भी आप का विरोध कैसे कर सकता हूँ ?'

'यह मेरा आदेश है। मराठा राजपुत्र अपनी मां को खूब जानता है। और आज्ञा उल्लंघन करने का कभी साहस नहीं कर सकता।'

खेल शुरु हुआ। पर यह दिखाई दिया कि, उस दिन भाग्य ने शिवाजी के खिलाफ पांसा फेंका। शिवाजी हरएक बाजी में हारते गये। उन्होंने जीजीबाई से प्रार्थना की कि, इस हार के बदले उनके कब्जे में से वे कोई किला ले लें।

'शिव! जो तुम्हारा है वह तो मेरा ही है। एक व्यक्ति वह चीज नहीं मांगता, जो उसके पास पहले से है। मैं सिंहगढ़ चाहती हूं। तुम्हारे अधिकार के किले नहीं।'

'पर सिंहगढ़ मेरे अधिकार में नहीं है कि, उसे दे दूं। मां, मराठे नहीं; मुगल उसके मालिक हैं।'

'फिर चाहे कुछ भी कहो, जीजीबाई कदापि नहीं सुनने की। राजमाता अपने निश्चय से नहीं हटतीं।'

यदि शिवाजी को संसार में किसी का भय था, तो वह अपनी मां के क्रोध का। उन्होंने दूसरे दिन रायगढ़ चलने की प्रार्थना की। राजमाता ने मंजूर किया। वहाँ पहुँचकर शिवाजी ने अपने सेनानायकों की सभा बुलाई और उनसे कहा कि सिंहगढ़ जीतने के लिए तैयार हो जाओ।

इस बड़े भारी किले की बलशाली मुगल सेना रक्षा करती थी। वीर सैनिक उदयभान किले का रक्षक था। उसे परास्त करना बड़े बड़े वीरों का काम नहीं था। पर बीड़ा लिया जा चुका था। अब सिंहगढ़ का मोर्चा लेना ही होगा।

× × ×

सूर्य्य भगवान् के अस्ताचल गमन के समय रायगढ़ की रणभूमि में एक व्यक्ति ने प्रवेश किया। आदमी के पैर की आवाज आई। पंतोजी ने महाराज शिवाजी से कहा,—'राजन्! उमरेठ से अभी एक घुड़सवार आया है। वह तानाजी मालूसरे का शुभ अभिवादन लाया है। उनके पुत्र का विवाह है। उन्होंने महाराज के सहित राज परिवार को आमंत्रित किया है। राय का, अगले मंगलवार को विवाह है।'

'तानाजी मालूसरे!' शिवाजी ने मुंह फेरते हुए कहा, तानाजी 'मालूसरे?'

'हां, महाराज।'

'ओह! मैंने पा लिया।' वह आनन्द से उछल पडे। 'मैंने अन्त में अपने आदमी को पा लिया। 'तानाजी इस कौशल को करेंगे। पंतोजी, तुम दूत को तुरन्त मेरे सामने लाओ।'

कुछ क्षण में वह बूढ़ा हाजिरी देनेवाला उमरेठ से आये हुए आदमी के साथ वापस आया। उस आदमी को सम्बोधित करते हुए शिवाजी ने कहा:—

'जाओ, अपने मालिक से कहना कि, शिवाजी, ने इस आमंत्रण के लिए तुम्हें धन्यवाद दिया है। पर बजाय मेरे जाने के उनसे कहना कि, वे तीन दिन के अंदर यहां उपस्थित हों। बहुत जरूरी काम है। विवाह तो सुविधा का काम है, पर मेरे काम में देरी नहीं हो सकती।

× × ×

उमरेठ में विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं। आनन्द का उल्लास फैल रहा था। शिवाजी का संवाद तानाजी को मिला। अपने पुत्रका विवाह रोकने में बड़ी वेदना हुई। पर उसने कहा, 'महाराज को मेरी जरूरत है, तो मैं पीछे न रहूँगा।' उस विश्वास-पात्र सेनापति ने तुरन्त यह निश्चय किया और एक हजार सिपाहियों को लेकर रायगढ़ की ओर चल दिया।

तानाजी के इस प्रकार तुरन्त आ पहुँचने से महाराज पर बहुत असर हुआ। उन्होंने उसका बड़े प्रेम से सत्कार किया। पर वह कोकन का सरदार महाराज के सामने आते ही फूट पड़ा और बोला—'मेरे महाराज! आपका मेरे साथ क्या झगड़ा है कि मुझे तुरन्त रायगढ़ बुला मंगवाया और मेरे लड़के की शादी रुकवा दी?'

इसके पहले शिवाजी कुछ जवाब दें कि, जीजीबाई आगे बढ़ीं और कहा, 'तानाजी मालूसरे, शिव ने नहीं मैंने तुम्हें बुलाया है।'

राज-माता को सम्मान प्रकट करने के लिये उस सरदार ने अपनी पगड़ी उतारकर चरणों में रख दी और कहा, 'मां! आपका सेवक, आपका आदेश चाहता है।'

'वीरवर मालूसरे, मैं चाहती हूँ कि, तुम मेरे लिए सिंहगढ़ पर कब्जा करो। कारण; देवीभवानी ने मुझे स्वप्न में आदेश दिया है कि, मैं वहाँ उनका मन्दिर बनवाऊं। यदि तुम मेरे लिए यह कर सको, तो मैं तुम्हें अपने पुत्र के समान मानूँगी। शिव के तुम छोटे भाई हो जाओगे।

जीजीबाई के ये शब्द, जो उन्होंने इस वीरता से कहे थे, उस वीर सेनापति पर कब असर नहीं कर सकते थे? घायल होना या मौत पाना कौन सी बात है, जबकि मुझे अपना पुत्र और शिवाजी का छोटा भाई माना है। उस भयानक चढ़ाई पर जाना उस शूर ने स्वीकार कर लिया।

मराठा साम्राज्य की राजधानी रायगढ़ से तानाजी और उनके सहस्रों सैनिक तलवार, ढाल और बर्छे लेकर चल पड़े। उन्होंने यह निश्चय किया कि, विजय प्राप्त करेंगे या मर मिटेंगे। सिंहगढ़ १५ मील दूर पर था। किले से एक मील दूर पर आनन्दीबाड़ी में मराठों ने डेरा डाला और तानाजी एक ग्रामीण का रूप धारण कर सिंहगढ़ पहाड़ी के एक दर्रे में प्रवेश कर गये। इस नवागन्तुक के विचित्र कामों को देखकर गांववालों को सन्देह हुआ और उन्होंने उसे पकड़ लिया। अपने को बचाते हुए उन्होंने कहा कि, वह सखारा का पटेल है, और जंगल में एक चीते से अभी मुकाबला होने पर उनके पास रक्षा के लिए भाग आया है। इससे सीधे-सादे ग्रामीणों को सन्तोष हुआ और तानाजी ने अपने बटुए में से पान-सुपारी लेकर उन सबको दी। जब यह देखा कि, अपनी इस भेंट से अच्छा फल निकला तब दूसरे बटुए से जवाहिरात निकाले और उन्हें सब में बांट दिया।

उन पर पूरी विजय प्राप्त कर लेने के बाद उन्होंने अपना परिचय दिया और उद्देश्य बताया। उनसे प्रार्थना की कि वे किले की सब बातें बतावें और यह कहें कि किस प्रकार वह जीता जा सकेगा। उन उपकृत लोगों ने तुरन्त ही उन्हें सब बातें बताई और कुछ ज्यादा ही कहा। उन्होंने कहा कि किले का घेरा छः मील का है और वह बड़ी मजबूत सेना से घिरा है। उसका सेनापति मनुष्यों में महा बलशाली दानव के समान उदयभान है। उसके अठारह स्त्रियां हैं और बड़ी क्षुधा है। प्रतिदिन भारी शिकार खाने के सिवा अढ़ाई मन चावल खाता है। उसके बारह लड़के हैं और वे उससे भी बड़े बलशाली हैं। उसका साथी सिद्दीकल्लाल बड़ा खूँखार और भयंकर है। उसके नौ औरतें हैं और उसकी भी बड़ी भूख है। जब पूछा कि कैसे पहुँचा जाय, तो उन कोलियों ने कहा कि डोंगरी चट्टान से पहुंचा जा सकता है। इस समाचारके लिए आदमियों को और भी पुरस्कार देकर तानाजी अपने तम्बू में वापस आगये और चढ़ाई के लिए तैयारी करने लगे।

दूसरे दिन यकायक एक बढिया मौका मराठों के हाथ आगया किले में एक भोज था और सेना के तमाम सिपाही नशे में बेहोश पड़ेथे। आधी रात बीतने पर मराठा सेना डोंगरी चट्टान के नीचे कल्याण द्वार के नजदीक खड़ी थी। वहां उन्होंने घोरपड़े यशवंत को अपने साथ लिया। उसने ही शिवाजी को २७ किले छीनने में मदद दी थी। वह अपनी कमर में रस्सी बांध कर चट्टान पर चढ़ गया। परन्तु आधी चढ़ान पीछे हट गयी। तानाजी के चाचा शेलार

ने सोचा कि यह तो अपशकुन हुआ और अपने भतीजे से कहा कि, इस काम को छोड़ दो। पर मालूसरे को काहिल यकीनों में कोई विश्वास नहीं था। उनने घोरपड़े को मार डालने की धमकी दी, यदि उनके आदेशानुसार वह काम नहीं करेगा। यशवंत भयभीत होकर ऊपर चढ़गया और पंजों सहित अपने हाथ जमीन में गड़ादिये। ताना जी तब अपनी तलवार के साथ ऊपर चढ़े और उनके बाद सब शस्त्रधारी। धीरे धीरे आदमी चोटी पर पहुंच गये। जब रस्सी और पाट नीचे छोड़ा गया, तब जोर की आवाज हुई। किले की सेना में हल चल मचगयी। मराठों को पाना अब कठिन था। कल्याण द्वार पहुंचना बड़ा दूर था। आम दरवाजा खुलने पर सेना अन्दर आ सकती थी। इधर ताना जी हर एक जोखम में पड़ने का निश्चय कर आगे बढ़े। इसके पहिले कि मुगल खयाल करें कि वहां क्या हो रहा है, ताना जी और उनके सिपाहियों ने तेजी से कदम बढ़ाया। लोहे के भारी दरवाजे खुले पड़े थे और ताना जी ने अपने सैनिकों को पुकारा कि कि दौड़ पड़ो।

इस गर्जन तर्जन की आवाज सुनाई पड़ने पर उदयभान अपने कमरे में से उठा। वह आठ प्याले मदिरा के चढ़ाये गेंद की तरह चार गोलियां निगले हुये नींद की हालत में था। उसने पहले अपने हाथी चंडावती को, फिर सिद्दी कल्लाल और उसके बाद अपने बारह पुत्रों को ताना जी से लड़ने भेजा। उमरेठ के उस वीर नरपुंगव ने सब को पछाड़ दिया। अपने पुत्रों की मृत्यु से क्रोधित हुए उदयभानु ने शस्त्र उठाये और पहले अपनी अठारह स्त्रियों को मार डाला, जिससे कि लड़ाई में उसकी मृत्यु होने पर उनकी बेइज्जती न हो। फिर उनके रक्त से अपने मस्तक में तिलक कर वह राजपूत जयकाली, जय भवानी का सिंहनाद करता जूझता हुआ चल पड़ा।

इस समय ताना जी के तलवारों के घावों से रक्त बहरहा था। वह मूर्छित होकर गिरपड़े थे। उदयभान के सामने वे फिर साहस से उठ खड़े हुए। पर वह घायल हुआ मराठा अधिक देर तक न ठहर सका उदयभान ने उसका मुकुट, और मस्तक दोनों उतार लिये। उदयभान ने विजय की घोषणा की कि, दूसरे ही क्षण शेलार उस पर सिंह के समान झपटा। उदयभान पीछे हटा।

मराठों की सेना सुसज्जित नहीं थी और वह चारों ओर बिखर गई थी। इधर मुगलों की सेना पूरी लैस और मजबूत हो चुकी थी। एक क्षण के लिए यह दिखाई दिया कि युद्ध में हार हुई। इतने ही में उस अंधेरी रात को भेदते हुए जोर का निनाद सुनाई पड़ा 'हर हर महादेव' और मराठा सेना ताना जी के भाई सूर्य जी के सेना नायकत्व में कल्याण द्वार से किले में घुस पड़ी और जीजीबाई की मनोकामना पूर्ण हुई।

बन्दूकों की गनगनाहट और गोलों की आग ने घोषित किया कि, सिंह गढ़ पर विजय हो गई। शिवाजी और जीजी बाई उस जीते हुए किले की तरफ चल पड़े। पर जब वे कल्याण द्वार के नजदीक पहुँचे, तब उन्हें ताना जी के मृत शरीर को लेजाते हुए सिपाही दिखाई पड़े। उन के साथ में शेलार और सूर्य जी भी थे। वे उस अमरयोद्धा को दाह संस्कार के लिये उमरेठ लेजारहे थे। महाराज शिवाजी ने उस जुलूस को वहां रुकवाया। शिवाजी और जीजीबाई ने वीरता टपकते हुए अनन्त की गोद में सोये हुये उस महावीर को निहारा, जिसने अपने कर्तव्य के लिए अपने प्राण अर्पण करदिये थे। महाराज शिवाजी ने, बड़े दुःख पूर्ण शब्द में कहा:—

'सिंहगेला, गढ़ आला'



महिला मुक्तावली



रूप और प्रेम

[लेखक—श्रीयुत नन्दकिशोर सी० ई०]

(१)

पत्नी का नाम रजनी था।

वह कुरूपा थी। सौन्दर्य, लावण्य और छवि उससे कोसों दूर थे, इतना ही नहीं वह अनपढ़ भी थी। एक साधारण लड़की—हर प्रकार के आकर्षण से शून्य।

पति का नाम था चन्द्रकान्त।

वह एक असाधारण सौन्दर्यपूर्ण, सुडौल युवक थे। एम० ए० के बाद फ़िलॉस्फ़ी में डाक्टर की पदवी प्राप्त और दिल्ली में एक प्रोफेसर के स्थान पर नियुक्त थे। शारीरिक, मानसिक अथवा सामाजिक कोई भी त्रुटि उनमें न जान पड़ती थी।

रजनी और चन्द्रकान्त दोनों का विवाह उसी पुराने ढंग से हो चुका था। चन्द्रकान्त एक उच्च घराने के लड़के थे, वह नहीं चाहते थे कि अपने माता पिता की खुशी में बाधा डालें। वह मां-बाप की इच्छानुसार जीवन-संगिनी को स्वीकार करने में अपना धर्म समझते थे। उन्हें क्या पता था कि रजनी सर्वथा उनके अयोग्य होगी।

चन्द्रकान्त रजनी का बहुत ध्यान रखते थे, उसके खाने पहिनने और रहने-सहने अर्थात् उसकी प्रत्येक आवश्यकता को पूरा करते थे, पर उन्हें रजनी से तनिक भी प्रेम न था। एक फीका नीरस जीवन केवल कर्तव्य के आधार पर खड़ा था, उनका जीवन वह विशाल भवन था, जिसकी नींव प्रेम और लगन के जल से सिंचित नहीं थी।

और रजनी—यह सब कुछ जानती थी।

(२)

चन्द्रकान्त—

इसमें उसका क्या दोष था। संसार में कौन सा व्यक्ति है जिसकी यह हार्दिक इच्छा न हो कि उसकी जीवन संगिनी रूपवती और सर्वगुण-सम्पन्न हो परन्तु इस संसार का नियम ही विचित्र है।

सब धनवान् होने की इच्छा करते हैं परन्तु धन को माया भी बताते हैं, और माया-मोह को संसार बुरा कहता है। सब रूपवान् और रूपवती होना चाहते हैं, परन्तु यूं भी कहते हैं कि रूप का विलास दीपक की तरह पतंगे को जला देता है।

कौन है, जो अपने घर की सजावट पर शक्ति अनुसार रुपया खर्च न करता हो, कौन है जिसने बजाज की दुकान पर कपड़े छाँटने में घण्टों न लगाये हों। कौन दर्जी पर कपड़े बिगाड़ लाने पर क्रोध नहीं करता। क्यों हमें सुन्दर से सुन्दर चित्र ही प्रिय लगते हैं। सुन्दर बालक मन को मोह लेता है, सुन्दरता में आकर्षण है।

यह सब ठीक होते हुए भी जब एक युवक अपनी पत्नी में सौन्दर्य और कला कौशल की इच्छा करता है तो संसार उसे मिजाजी और गिरा हुआ समझता है। माना कि इस इच्छा का होना निर्बलता का द्योतक है, परन्तु है यह सब संसार की— अखिल समाज की निर्बलता।

चन्द्रकान्त की आँखों के सामने उसके सारे मित्रों के जीवन दृश्य आते रहते थे। सबकी सहचरियां थोड़ी बहुत हर प्रकार से योग्य थीं। फिर उन्होंने ही ऐसा कौनसा अपराध किया था। वह किस प्रकार रजनी के साथ बड़ी त्रुटियों को भुला देते।

अच्छा होता यदि समाज मनुष्य की त्रुटियों को सहानुभूति से देखा करता। सम्भवतः इससे कभी न कभी धर्म के सिद्धान्तों से सबल होकर मनुष्य का दृष्टिकोण सीधे पथ पर आ जाता, पर आज समाज उस संस्था को कहते हैं जो मनुष्य के उस आचरण को बुरा कहे, जिसे उसी समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने मन में अच्छा समझता हो।

चन्द्रकान्त एक आदर्श पति थे, जहाँ तक कर्तव्य का सम्बन्ध था वह सब कुछ करते। रजनी के लिये आभूषण वस्त्र, देख-भाल सब कुछ था, वह चाहते थे कि वह रजनी को सदा प्रसन्न रख सकें। उनकी इच्छा थी कि वह रजनी की इन त्रुटियों को भूल जायें और रजनी को यह पता भी न लगे कि उनके मन में कौन सी प्यास है। जो कुछ वे कर सकते थे, उन्होंने सब किया।

परन्तु थे तो वह भी मनुष्य ही। उन्होंने इतिहास में पढ़ा था कि बड़े बड़े राजा और विद्वान रूपके पुजारी रहे हैं। उन्होंने साहित्य देखा कि कहीं किसी कवि ने कुरूप नारी की प्रशंसा की हो, कहीं कोई कुरूपा किसी नाटक की अभिनेत्री रही हो। वह सिनेमा में जाते तो यह देखने की चेष्टा करते कि कहीं किसी डाइरेक्टर ने किसी साधारण सी युवती को अभिनय करने की आज्ञा दी हो। उन्होंने समाचार पत्रों में वैवाहिक विज्ञापनों की माँगों को पढ़ा पर सब में रूप और कला कौशल की माँग को ही सर्वप्रथम पाया।

अब यदि उनके मन में भी यह उमंग थी, तो इसमें उनका क्या दोष था।

(३)

और बिचारी रजनी —

यदि वह रूपवती न थी तो उसका क्या दोष। उसने कब कहा था कि वह अनपढ़ और फूहड़ रहना चाहती है। यह उसको किस अपराध का दण्ड मिल रहा था।

विधि के विधान भी विचित्र होते हैं।

क्या ही अच्छा होता कि प्रत्येक हृदय में प्रेम की मांग अपने रूप के अनुसार हुआ करती एक ओर तो रूप प्रेम को उत्तेजित करता है और दूसरी

और कुरूप व्यक्तियों में भी प्रेम करने की इच्छा उतनीही प्रबल होती है।

भगवान् क्यो किसी को रूपवान् और किसी को रूपहीन बनाते हैं। संसार में क्यों एक तो जन्म से ही सोने के पालनों में झूलता है और दूसरा मिट्टी में रुल रुल कर पलता है। हाँ! निर्धन होना फिर भी सहा जा सकता है यदि जीवन यापन की सामग्री भर मिलती चली जाये फिर हजारों व्यक्ति परिश्रम करके निर्धन से धनवान् होते देखे जाते हैं, पर आज तक कोई भी परिश्रम द्वारा कुरूप से रूपवान् नहीं हो सका। हजारों दरिद्रियों को धनवानों ने अनेक बार धन दान देकर उनकी दरिद्रता को हर लिया है, परन्तु किसी कुरूप की कुरूपता को कोई राजा भी बदल न सका।

किसी मनुष्य में इस त्रुटि की कोई चिकित्सा है ही नहीं। बड़े से बड़ा वैद्यराज भी हजारों रुपये की औषधि से कुरूप व्यक्ति के मन में प्रेम की प्यास को कम नहीं कर सका।

रजनी प्रसन्न थी कि उसके पति उसका पूरा ध्यान रखते हैं। वह यह भी जानती थी कि वह उन को किसी प्रकार प्रसन्न नहीं रख सकती, वह चन्द्रकान्त के हृदय को जीत नहीं सकती। वह विवश थी और एक नीरस जीवन बिता रही थी।

(४)

आनन्द —

चन्द्रकान्त का एक गहरा मित्र था, उसने देखा कि उसके मित्र का गृह जीवन एक भार था। करुणा और खेद का एक दृश्य। कई बार उसने इस जीवन को सुधारने का प्रयत्न किया।

वह समझ गया कि इस रोग की औषधि कठिन है। वहां तो दो व्यक्तियों की ऐसी असमानता थी, जिन्हें दूर किये बिना सफलता असम्भव थी और जिन्हें दूर करना मनुष्य के हाथ में न था।

अब क्या किया जाये।

उसने कई बार चन्द्रकान्त से कहा, "दूसरा विवाह कर लो" पर चन्द्रकान्त कभी ऐसा करना तो क्या सोचना भी पाप समझते थे "फिर इस जीवन को क्या यूँही घसीटते जाओगे?"

"तो और क्या हो सकता है" चन्द्रकान्त ने उत्तर दिया।

शनैः शनैः आनन्द को कुछ सफलता प्राप्त होने लगी—चन्द्रकान्त के जीवन में रस पैदा करने में नहीं, पर एक दूसरे पथ पर ले जाने में।

एक बार दोनों मित्रों ने निर्णय किया कि कुछ महीनों के लिये रजनी को उसके पिता के घर भेज दिया जाये। और इस समय में कुछ मनोरंजन अथवा संसार दर्शन के लिये बाहर भ्रमण किया जाये।

ऐसा ही हुआ, और एक दिन दोनों मित्र दिल्ली की प्रसिद्ध नर्तकी रूपबसन्त के यहां चले गए।

आधुनिक शिक्षा ने जीवन का जो सबसे बड़ा मर्म हमारे सामने रखा है वह यह है कि संसार में सत्य और असत्य, अच्छा और बुरा, पुण्य और पाप केवल कल्पना-मात्र विषय हैं। वास्तव में क्या सत्य है और क्या असत्य इसका निर्णय न कभी मनुष्य कर सका और न कर सकेगा। ऐसी अवस्था में वही पथ स्वीकार करना चाहिये जो मन को भाये। आज कल का शिक्षित युवक एक क्षण में सिद्ध कर सकता है कि ईश्वर नहीं है, धर्म एक ढोंग है। पतिव्रत धर्म और पत्नीव्रत धर्म मनुष्य के बनाये हुए अस्वाभाविक बन्धन हैं, जिन्होंने संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक पैदा किए हैं। उसका मस्तिष्क इतना तीव्र हो गया है कि जो भी पथ वह ग्रहण

करना चाहे उसके समर्थन में एक नहीं अनेकों प्रमाण दे सकता है।

चन्द्रकान्त ने सोचा, इसमें दोष क्या है? क्यों मन ऐसा रहता है? क्या मन की तीव्र प्रेरणा को दबाना पाप नहीं होगा? वह कभी भी ऐसे स्थान में न जाता यदि विधि ने उसके साथ न्याय किया होता। वह कर ही क्या सकते हैं और फिर रूपबसन्त तो एक कलाकार है, कला का प्रदर्शन कहीं पाप हो सकता है?

उधर आनन्द बोला कि संसार में किसी व्यसन को देखने में पाप नहीं होता बल्कि उसमें लिप्त होने में होता है। आनन्द ने यहां चन्द्रकान्त से एक प्रतिज्ञा कराई कि वह कभी भी वहां उसके बिना नहीं आवेगा, परन्तु शीघ्र ही चन्द्रकान्त ने कुछ और भी देखा, उसने वहां रूप देखा, रंग देखा—आनन्द, खेल, मनोरंजन सब देखा। परन्तु उस फिलॉसफर को यह देखने में देर न लगी कि वहां शांति तो थी ही नहीं।

आनंद बोला, चन्द्रकान्त! तुम तो सब कुछ प्राप्त करना चाहते हो। रूप भी मनोरंजन भी और इसके साथ सुख और शांति भी चाहते हो।

(५)

चन्द्रकान्त ने देखा नर्तकी का भवन एक रूप की दुकान है जहां रूप पैसों के मोल बेचा जाता है। हां! विधि ने रूपको कितना निष्ठुर बनाया है। प्रायः जहां रूप है वहां हृदय नहीं। रूपमें कितनी लालसा होती है कि उसका जी भर कर प्रदर्शन होता रहे। उसकी प्रशंसा होती रहे। रूप बिना प्रशंसा कराये शांत नहीं होता और जीवन का सबसे बड़ा दुःख यह है कि रूप एक व्यक्ति की प्रशंसा से संतुष्ट नहीं होता उसको तो कई पुजारी चाहियें।

आज संसार ने धनवानों का विरोध किया—उनका भी जिन्होंने अपने हाथों धन कमाया—संसार कहता है कि यह लोग अन्यायी हैं, प्रशंसा के इच्छुक हैं, समाज के भार हैं।

फिर संसार ने राज्य प्रणाली का पीछा किया। वह लोग भी संसार की दृष्टि में अन्यायी और दुष्कर्मी निकले। साम्यवाद ने राज्यवाद और धनवाद का अन्त करने की चेष्टा की। उनके मत में यह दोनों संस्थायें अशांति की मुख्य कारण हैं, परन्तु संसार में रूप के अत्याचार के लिये कोई दण्ड नहीं, कोई आन्दोलन नहीं। आज यदि कोई धन के मद से अथवा शक्ति के प्रभाव से किसी को हानि पहुंचाये तो उसके प्रति न्याय का प्रबल शस्त्र उठ सकता है। जन समाज उसे अन्यायी और अत्याचारी का नाम दे देता है, उसका रहना कठिन हो जाता है और उसे उसका दण्ड दिया जाता है। परन्तु रूप अपने जादू से मदोन्मत्त होकर दिन दहाड़े कितना अत्याचार करता है, विश्वास की आशा दिलाकर विश्वासघात करता है और मनुष्य के हृदय को गेंद की भांति ठुकराता है, यहां तक कि कितनी बार आत्महत्या का कारण रूप का अत्याचार ही होता है और आज के न्याय के नियम अपराधी को निर्दोष समझते हैं। हमारा समाज इस विचारे निर्बल को इस आत्म-हत्यारे को बुरे से बुरे शब्द कहने में संकोच नहीं करता। वह कितना पापी है कितना गिरा हुआ नीच, अधम। समाज उस विचारे को हजारों दोष देकर एक क्षण में बाहर निकालकर फेंक देता है, उस दोष पर, उस त्रुटि पर जिसका अपराधी उस समाज का प्रत्येक प्राणी है।

चन्द्रकान्त की आँखें खुलीं उसने देखा, रूप के बाजार में बहुत महंगे दाम हैं। वहाँ केवल धन, समय

और प्रेम ही नहीं देना पड़ता, वहाँ तो लोग सर्वस्व के ग्राहक हैं, शायद रूप का भिखारी यह भी दे देता, पर उसकी समझ में शीघ्र ही आ गया कि इस स्थान पर सर्वस्व दे देने के पश्चात् भी हाथ कुछ नहीं लगता।

चन्द्रकान्त ने कहा "आनन्द चलो, यहाँ से चलें, यहाँ तो गहरी दलदल है।"

"चलो" आनन्द हंसकर बोले, "तुम तो बड़े लालची हो चन्द्रकान्त, तुम रूप के साथ हृदय और प्रेम भी मांगते हो, आओ कहीं और चलें।"

वे दिल्ली की सबसे बड़ी कौसमोपौलिटन क्लब के सदस्य बन गये।

(६)

इस जीवन का अनुभव प्रोफेसर साहिब को प्रथमबार हुआ। यह जीवन कितना तड़क-भड़क पूर्ण कितना सुखमय और कितना आनन्द दायक है। ऐसा प्रतीत हुआ कि विधाता ने इस संसार में स्वर्ग की छोटी सी दुनियाँ बसाई हुई है जहाँ आनन्द का साम्राज्य है और दुःख को द्वारपाल द्वार पर ही रोक देता है।

युवक और युवती कितने हाव भाव बनाव और श्रृंगार से वहाँ आकर खुशी से समय व्यतीत करते हैं। क्या ही अच्छा होता वह भी संसार में इतना ही आनन्दित होता। जब कोई युवती उनसे मधुर बोलती तो वह अपने आपको भूल जाते। अब यहाँ वह अनुभव करते कि यह संसार में कितना अच्छा स्थान है। यहाँ न धर्म की अड़चन न समाज का डर। यहाँ का समाज निराला था और दयालु भी। यहाँ स्त्री पुरुष, भेद-भाव, लज्जा और भय रहित कितने प्रेम से मिलते जुलते थे।

शीघ्र ही प्रोफेसर साहिब क्लब में प्रतिष्ठित माने जाने लगे और उनकी खूब पूंछ तांछ होने लगी। परन्तु एक बात उनके मन में सदा खटकती कि वह क्लब में अकेले ही आते हैं। शेष सब सज्जन अपनी अपनी पत्नियों और इष्ट-मित्रों सहित आया करते थे और वह अकेले, यह उन्हें अखरता था। "कैसा बुरा है मेरा जीवन, सब क्या कहते होंगे?"

वह फिर सोचते अच्छा ही है कि वह अपनी पत्नी को नहीं लाते। कितनी हँसी उड़ती और उन्हें त्यागपत्र देने पर बाध्य होना पड़ता, फिर घर बैठते।

वह सोचते, "इन बातों का कुछ अन्त भी है, कब तक वह इस प्रकार अकेले आते रहेंगे" लोग उन्हें टोकते हैं। कई तो यहाँ तक कह देते कि अकेले पुरुष का क्लब में आना भला नहीं होता। वह सुनते और स्तब्ध रह जाते।

वह प्रायः सोचा करते, "क्या ही अच्छा होता मैं भी अपनी पत्नी के साथ आया करता। लोग मेरी पत्नी से भी बातचीत करके प्रसन्न होते, कितना आदर होता और कितना नाम।"

निर्बल शरीर में रोग प्रबल हो जाया करता है, उस ही तरह इस समय चन्द्रकान्त का मन निर्बल पड़ गया था। उसके ऊंचे प्रस्ताव और ऊंचा व्रत दोनों डगमगा गये।

आनन्द सब कुछ देखा करते।

उसी क्लब की एक सदस्या थीं मनोरमा—एक उच्च वंश की एक रूपवती लड़की। आनन्द को जँचा यहाँ काम बन सकेगा। उसने मनोरमा को चन्द्रकान्त का सब वृतान्त एक दिन कह सुनाया और उससे सहयोग की याचना की। बात स्थिर होगई।

थोड़े ही दिनों में चन्द्रकान्त, आनन्द और मनोरमा तीनों में घनिष्ट मित्रता हो गई। चन्द्रकान्त मनोरमा की और मनोरमा चन्द्रकान्त की प्रतीक्षा में रहा करते। कुछ समय बीतने पर यह निर्णय भी हो गया कि चन्द्रकान्त और मनोरमा का विवाह हो जाये।

चन्द्रकान्त अब सोचा करते "कितना सुखी जीवन होगा, स्वर्ग ही पृथ्वी पर उतर आयेगा।" उन्हें अपने जीवन के सारे कष्ट मिटते दिखाई देते।

(७)

इस क्रूर निश्चय के पश्चात् चन्द्रकान्त उस शुभ घड़ी की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे, जब वह भी एक सम्पूर्ण गुण सम्पन्न रमणी के पति होंगे। जब उनके जीवन की घटनाओं से सुख का सूर्य चमकेगा। उनके मन में विचार आते कि मनोरमा कितनी अच्छी है, कितने उच्च विचार हैं उसके, कितना विशाल उसका हृदय है कि चन्द्रकान्त की पहली पत्नी के होते हुए भी अपना विवाह चन्द्रकान्त से करना स्वीकार कर लिया।

समय व्यतीत होता गया, थोड़े ही दिनों में चन्द्रकान्त को प्रतीत होने लगा कि मनोरमा का समाज में हरएक से बातचीत और मेलजोल उनके मन को अखरता है।

आरम्भ में तो वह यह सब कुछ देख सकते थे परन्तु अब तो वह मनोरमा को इतना अपना समझने लगे थे कि किसी अन्य व्यक्ति से उसका बातचीत करना भी उन्हें असह्य हो गया। हृदय के प्रेम प्रवाह में बाधा पड़ने लगी। एक ओर मनोरमा की शीघ्र अपनाने की प्रतीक्षा और दूसरी ओर ईर्षा ने चन्द्रकान्त को व्याकुल कर दिया। वह देखते कि दिन प्रतिदिन मनोरमा का ध्यान उनकी ओर से पलटता जाता है वह सोचते "यह सब कुछ क्या हो रहा है।" उन्होंने एक दिन बातों ही बातों में आनन्द से सब हाल कह डाला।

चन्द्रकान्त बोले "इसका निर्णय तो करना ही होगा।"

"ठीक है" आनन्द बोले।

(८)

एक दिन मनोरमा के मकान पर तीनों मित्र इकट्ठे हुए, थोड़ी देर दोनों ही चुप रहे, अंत में चंद्रकांत बोला, "मनोरमा तुम्हें स्मरण रखना चाहिये कि तुम अब मेरी पत्नी होने वाली हो। हिन्दू पत्नी की भांति रहना तुम्हारा धर्म है। यदि तुम्हारा विचार यह है कि तुम विवाह के पश्चात् भी इसी तरह स्वतंत्र फिरोगी और यदि इस स्वतंत्रता के बिना तुम नहीं रह सकतीं तो... ....."

मनोरमा बीच ही में बोल उठी "तो यही अच्छा है कि हम अलग अलग रहें।" चंद्रकांत के लिये यह बात असह्य थी "यह कैसे हो सकता है" वह बोल उठा। मनोरमा ने उत्तर दिया "यही होगा प्रोफेसर साहब, आपने कभी सोचा नहीं कि जो स्वयं स्वतंत्र रहना चाहे, उसे दूसरों के परतंत्र रखने का क्या अधिकार है? यदि प्रेम प्राप्त करना चाहते हो तो प्रेम करना सीखो, यदि किसी को दास बनाना चाहते हो तो उसके दास बनकर भी देख लो। यदि सुखी होना चाहते हो तो अन्य किसी के सुख को मत छीनो।"

वह बोले "मैं तो प्रेम का आदर करता हूँ।"

"आप केवल रूप का आदर करते हैं" मनोरमा बोली "आपने प्रेम को तो घर से बाहर निकाल कर फेंक दिया है, आप चाहते हैं मैं अपने जीवन को अर्पण कर दूं और वह भी आपके, जिन्हें केवल रूप का मूल्य करना आता है, प्रोफेसर साहब एक दिन

वह भी आने वाला है, जब मेरा रूप भी कुरूपता में परिवर्तित हो जायेगा, मैं वृद्ध हो जाऊंगी। यह काले काले सुन्दर बाल रुपहली हो जायेंगे। यह सौन्दर्य का तेज क्षीण पड़ जायेगा। उस दिन किसके प्रेम के सहारे पर जी सकूंगी। क्या उसके, जिसने रूप के कारण प्रेम को ठुकरा दिया।"

प्रोफेसर साहब चुप थे। मनोरमा बोलती चली जा रही थी "आप से विवाह करने से पूर्व यह निश्चय करना होगा कि क्या आप स्वतंत्र होंगे और हम परतंत्र। आप समाज में स्वेच्छा पूर्वक फिरेंगे और जो चाहेंगे करेंगे और हम बन्धन में जकड़े हुए आपके सिवा और किसी से बात न करेंगे। शायद यह भी हो जाता पर जिस नींव पर यह जीवन भवन आप बनाना चाहते हैं, वह है रूप, अर्थात् एक माया, एक कृत्रिम बात, आज है कल नहीं, फिर कौन चाहेगा कि उसका जीवन एक रूप के ग्राहक के हाथों में सौंप दिया जाये।"

मनोरमा का मुख इस समय लाल हो गया था, वह एक दम तेजी से खड़ी हो गई। चंद्रकांत और आनन्द भी खड़े हो गये।

"क्षमा करना चंद्रकांत" मनोरमा बोल उठी "मैं तुम्हें बताना चाहती हूँ कि तुम कितने भूले हुए हो और पाप की ओर अग्रसर हो। अच्छा नमस्कार। फिर मिलेंगे, आशा है यदि क्लब में मिले तो आपके साथ आपकी पत्नी भी होंगी।"

चंद्रकांत का सर चकरा रहा था, यह सब क्या ? ऐसा क्यों हुआ ? क्या यह आनन्द की माया थी ? अब क्या होगा ? इसी समय इस घोर अंधकार में दूर गंगा नगर की ओर आशा का एक चमकता हुआ तारा दिखाई पड़ा। चंद्रकांत ने आंखें खोल दीं, वह था रजनी का मुखारविंद।

(६)

क्यों हम किसी विशेष व्यक्ति के विषय में अपना जीवन निष्फल समझा करते हैं ? क्यों उसका योग हमें जीवन के तुल्य और उसका वियोग मृत्यु के तुल्य लगा करता है ? रजनी को किस बात की कमी थी ? खाना-पहिनना, रहना-सहना सब उच्च कोटि के प्राप्त थे। चंद्रकांत का वियोग उसके लिये असह्य था, वह यह तो जानती थी कि अपने प्राणनाथ को वह प्राप्त कर सकती है, परन्तु उसके प्रेम को नहीं। प्रेम के बिना उसका सारा जीवन निस्सार था, शून्य था, व्यर्थ था और था केवल एक भारमात्र।

अब वह चंद्रकांत के लिये एक अन्तिम सेवा करना चाहती थी, जिस सेवा से बढ़ कर संसार में अन्य कोई सेवा नहीं होती। वह समझती थी कि जब तक मैं जीवित हूँ मेरे पतिदेव सुखी नहीं रह सकते। उसने सोचा मेरे अलग हो जाने पर चंद्रकांत मनचाहा विवाह कर सकेंगे। हां! कितना अच्छा जीवन मेरे त्याग के कारण मेरे प्राणनाथ को प्राप्त हो सकेगा।

"त्याग था आत्म-हत्या" रजनी कांप उठी। आत्म-हत्या से बढ़ कर संसार में दूसरा पाप नहीं है। परन्तु इसी आत्म-हत्या को आत्म-बलिदान का रूप देने पर इससे बढ़कर अन्य पुण्य नहीं रहता।

"पाप या पुण्य वास्तव में यह क्या हैं ?" रजनी विचारी को इतना ज्ञान कहां कि इसका निर्णय कर सकती। उसने सोचा जिस त्याग से एक ओर वह बन्धन मुक्त हो जायगी और दूसरी ओर उसके पति-देव के नव-जीवन का आरम्भ होगा, जिससे दुःखों का अंत और सुखों का विकास होगा क्या वह कभी पाप हो सकता है ?

वह फिर सोचने लगी "यह समाज भी कितना ढोंगी है, पहिले तो एक युवती का जीवन निस्सार और निर्मूल बना देता है और यदि वह अगाध दुःख से पीछा छुड़ाना चाहती है, तो उसे पापी की पदवी प्रदान करता है। कितना घोर अत्याचार है? मालिक नौकर को पेट भर खाना भी न दे और नौकरी भी छोड़ने न दे। घुट २ कर मर जाने को समाज अच्छा समझता है।

इतना सोच कर, मन को पक्का कर चंद्रकांत के चित्र को रजनी ने नमस्कार किया और घर से नदी की ओर चल पड़ी।

वह चलती जाती थी और पाप और पुण्य की समस्यायें उसके सामने थीं। इसके बाद वह नर्क में जायगी। किस अपराध पर? माना कि वह इतनी सुन्दर न थी, योग्य न थी जो अपने पति को प्रसन्न कर सकती और उसका प्रेम प्राप्त कर सकती। उसने अपने मन से पूछा "क्या नर्क इस जीवन से अधिक दुःखदायक है।" मन ने कहा "नहीं।"

वह फिर सोचने लगी, मैं आत्म-हत्या थोड़े ही कर रही हूँ, यह तो बलिदान है, उसके जीवन के लिये, जिसके लिये वह बन्धन बन गई थी। इस बन्धन से उसको मुक्त करने के लिये यह होगी प्रेम-पूर्ण अंतिम और सर्वोत्तम सेवा।

(१०)

इतने में नदी पास आ गई।

उधर चंद्रकांत और आनन्द रजनी को न पाकर नदी की ओर दौड़े।

रजनी आगे आगे थी, और यह दोनों मित्र पीछे पीछे। सब वेग से बढ़े जा रहे थे। एक बन्धन से मुक्त करने, और दूसरे बन्धन में बांधने।

इसके बाद क्या हुआ इसका निर्णय हम पाठकों के कोमल अन्तःकरणों पर छोड़ते हैं। इस संसार में जीवन की कोई भी कथा किसी उचित अंत तक नहीं पहुँच सकी।

(११)

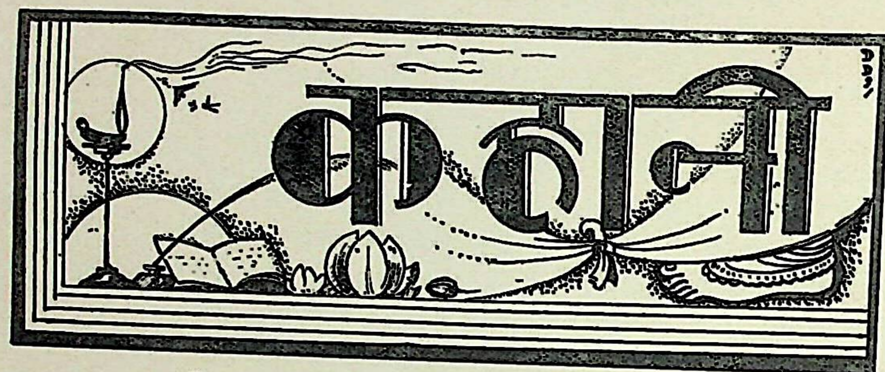
शायद रजनी डूब गई।

चंद्रकांत उसे बचा न सके और वह इसलिये डूब गई कि चंद्रकांत को उसके जीवन पर्यन्त तक समाप्त न होनेवाला दंड दे ताकि वह अब शीतल मन से रूप की लालसा और प्रेम की इच्छा में अन्तर समझ सकें और जान सके कि मानव अपने विकारों और त्रुटियों को किस सीमा तक यथेष्ट समझ सकता है। अब सम्भवतः चंद्रकांत रातों की निद्रा को भंग करके सहसा असह्य दुःख से चौंक पड़ता होगा और फिर वह फ़िलास्फ़र इस निर्णय पर पहुँच सका होगा कि उसके लिये कौन सा मार्ग सच्चा है। क्या जाने कुछ दिनों के दुःख चिन्तन के पश्चात् रजनी की मृत्यु ने उसको एक बन्धन से स्वतंत्र कर दिया हो और अब उन्होंने मनचाही युवती से विवाह किया हो और यह प्रबन्ध किया हो कि अब रूप और प्रेम उसके जीवन में परिपूर्ण रहेंगे और कभी क्षीण न पड़ेंगे।

और क्या पता उसे रजनी के बलिदान से जीवन का नया मर्म पता लगा हो और अब श्रद्धा और प्रेम से उसी कुरूपा और अनभिज्ञ रजनी की याद में शेष जीवन उस सुख और शांति से बिता रहा हो जो उसे रजनी के जीवन में कभी प्राप्त न हो सके।

शायद रजनी बच गई हो।

चंद्रकांत उसे बचा सके और वह रजनी के मुखारविंद में एक असीम प्रभा और सौंदर्य देखने लगे वह सौंदर्य जो नर्तकी के रूप और मनोरमा के लावण्य से कहीं अधिक सुखदायक था। उन्होंने उस सौंदर्य को देख लिया हो जो आंखों से नहीं हृदय और मस्तिष्क से जांचा जाता है और अब जीवन पर्यन्त उस सुख और शांति से रहते हों जो मानव का उत्कृष्ट आदर्श होता है। उस प्रभा और ज्योति का आदर्श बने हों जो रजनी और चन्द्र मिलकर शायद पूर्णिमा को हमारी पृथ्वी पर बरसाया करते हैं।



यम की दौड़

[लेखक—पं० रामचन्द्र तिवारी]

[संसार में जहां तक मनुष्य देख सकता है उस स्थूल लोक से परे सूक्ष्म लोक भी हैं। जीवन प्रतिक्षण काल से युद्ध करता है। आत्मा के सामने से इस युद्ध में यम भागते हैं और जीवन उनका पीछा करता है। यम सूक्ष्म-लोक में भाग जाते हैं और जीवन वहां भी उन्हें धकेलता है। वह बार-बार यम का पीछा करता हुआ स्थूल लोक में आता और जाता है। यम जब भी उसे पीछे फिरकर मारना चाहता है तो देखता है कि आत्मा अजर और अमर है। इस भाव को सफल कहानी लेखक ने बड़ी सुन्दरता से दिखाया है। —सम्पादक]

मैं प्रायः गंभीर सोता हूँ। स्वप्नों की रानी ने कितनी ही बार अपने सुनहरी परों से मेरे द्वार खटखटाये हैं, पर प्रवेश करने में उन्हें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई है। उसका कारण है कि किवाड़ पूर्ण तख्तों के नहीं हैं सीखचों के हैं, फलस्वरूप पंखों के प्रहार से एक तो आहट भी कम होती है और दूसरे सीखचों में पंख फँस जाने के कारण रानीजी को लौटना पड़ता है।

बिजली का पंखा चल रहा था।

मैंने देखा कि एक धुँधली-सी मूर्ति वायु में मेरे ऊपर की ओर उड़ती आ रही है। अन्धकार में वह प्रथम गम्भीर अन्धकार सी जान पड़ती थी। मैं भयभीत तो नहीं पर निद्रा में सतर्क हो गया और नेत्र फाड़कर उस कालिमा पिण्ड में नवीन परिवर्तनों को देखने लगा।

वह पिण्ड धीरे-धीरे निकट आता अनुभव हुआ। और एक आकार की स्पष्टता उसमें दृष्टिगोचर होने लगी। मेरी उत्सुकता बढ़ी और आँखें उसमें परिचित रूप खोजने लगीं।

उन्हें निराश न होना पड़ा। मैंने देखा कि वह मेरे मित्र किशोरसिंह हैं।

किशोरसिंह वैसे ब्राह्मण थे, पर उनका विचार था कि ब्राह्मण नहीं सब वर्णों में श्रेष्ठ क्षत्रिय है। कोई भी वर्ण हो क्षत्रिय-वृत्ति का अभाव होने से वह शूद्र से भी नीचे गिर जाता है। अपने इस विश्वास के अनुसार ही वे सेना में भरती हुये, कैप्टेन के पद तक पहुंचे और इसके पश्चात् सामरिक सेवा में अफ़रीका चले गये। वहां से बहुत समय तक उनका कोई समाचार नहीं प्राप्त हुआ। अभी हाल की विज्ञप्ति में ट्यूनीसिया के युद्ध में उनकी वीर-गति पाने का समाचार निकला है, वे बम के विस्फोट द्वारा इतनी बुरी प्रकार आहत हुए कि उनका शरीर प्राप्त नहीं किया जा सका।

और इस समय मैंने देखा कि वही किशोरसिंह

कैप्टेन के वस्त्रों में मेरे सम्मुख उपस्थित हैं। मैंने चेष्टा की कि मैं उठकर बैठूँ पर जान पड़ता है कि करवट बदलने से अधिक और मैं कुछ कर न पाया।

मैंने देखा वे सम्मुख की कुर्सी पर बैठ गये हैं और मैं पलंग पर लेटा-लेटा उन्हें देख रहा हूँ।

मैंने देखा कि उन्हें कुर्सी पर बैठते समय कष्ट अनुभव हो रहा है। किशोरसिंह शरीर और मन दोनों से अत्यन्त बलिष्ठ थे। जो उन्होंने कर्तव्य समझा उसमें कभी हिचके नहीं और जिसे हाथ में लिया उसे करके छोड़ा। कष्ट अथवा निराशा की कोई रेखा उनके मुख पर मैंने कभी नहीं देखी। आज उन्हें कुर्सी पर कष्ट से बैठते देखते मुझे आश्चर्य हुआ। पर निद्रा के आलस्य ने मुझे जकड़ा रक्खा।

नयन मिलते ही वे मुस्कराये। और मैंने देखा कि कष्ट की छाया क्षणिक थी।

'मुझे पहिचानते हो न?' उन्होंने अभ्यस्त दृढ़ स्वर से पूछा।

'हाँ, क्यों नहीं, आप किशोरसिंह हैं।' मैंने निद्रा में उत्तर दिया।

'हाँ, आपने ठीक पहिचाना, बी० एस० सी० और एम० एस० सी० में आप मेरे सहपाठी थे।'

'जी।'

ट्यूनीसिया के युद्ध में मैं स्थूल शरीर छोड़ चुका हूँ। अत्यन्त आनन्दमय क्षण था वह मृत्यु इतनी आनन्ददायक हो सकती है, इसका मुझे सन्देह भी नहीं था। हम लोग शत्रु-सेना को पीछे हटाते हुए बढ़ रहे थे। शत्रु एक एक इंच भूमि के लिये शीशे और विस्फोटकों की वर्षा कर रहा था। वायु में गोलियों की सन सन रह रह कर गोलों के विस्फोटों से कांप कांप उठती थी। वीरों के उल्लास की सीमा नहीं थी। जीवन मृत्यु की समस्या इतनी स्पष्ट थी कि उसकी ओर ध्यान ही न जाता था।

और तभी एक तेज़ धमाके के साथ कोई भारी वस्तु निकट की चट्टान से टकराई और एक भीषण चीत्कार में मैं जैसे सो गया। यह दो इंच भूमि सहस्र मील प्रति सेकण्ड की गति पार करने के समान था। इस प्रकार के खेल के लिये मैं एक दर्जन जीवन देने को तैयार हूँ।"

यह मेरे लिये नवीन अनुभव था। यही पहिले व्यक्ति थे जिन्हें मैंने अपने अनुभव से मृत्यु के सौंदर्य पर मोहित होते पाया था। तो क्या मृत्यु वास्तव में सुन्दर है?

मैंने सोचा कि ये यहां क्या मृत्यु की प्रशंसा करने को पधारे हैं। मैं कम से कम अभी मृत्यु से साक्षात् कार करने को प्रस्तुत नहीं था।

किशोरसिंह मेरे मन की बात जैसे पढ़ गये, बोले।

"भाई इसमें भय को स्थान नहीं। एम० एस० सी० तक विज्ञान की शिक्षा पाकर और दो वर्ष भौतिक अन्वेषण पर बिताने के कारण खोज से मेरा विशेष प्रेम हो गया है। सूक्ष्म-शरीर होने के कारण, मेरी कुछ सीमायें बन गयी हैं। मैंने इस संसार में आकर कुछ बातों का पता लगाया है, चाहता हूं तुम्हारे द्वारा उन्हें प्रकाशित करूँ।"

"धन्यवाद, मैंने कहा।"

"इस लोक में एक कथा प्रचलित है। हम सूक्ष्म-शरीरी आत्मायें प्रायः अपने बच्चों को उसे सुनाते हैं।"

"क्या है वह कथा?" मेरी उत्सुकता की धार तेज़ हो गई।

"जीवन और मृत्यु के सम्बंध को हम ज्यों ज्यों सूक्ष्मतर होते जाते हैं, त्यों त्यों अधिकाधिक समझते

जाते हैं। सूक्ष्मता की एक कक्षा विशेष पर पहुँचने के पश्चात् मृत्यु और जीवन में कोई भेद नहीं रह जाता।"

"आपकी कथा"! मेरी कहानी सुनने की उत्सुकता और बढ़ गयी।

"सुनाता हूँ।" और इसके पश्चात् उन्होंने कहानी प्रारम्भ की।

"कथा इस लोक में प्रचलित है कि एक बार एक देवपुत्र आकाश से आ गिरा। चौपाल पर बैठे हुये लोग वार्तालाप कर रहे थे। इस दुर्घटना को देखकर वे दौड़े और देवपुत्र को लाकर फूलों के बिछौने पर लिटा दिया।

देवपुत्र उन लोगों की इस सेवा से अत्यंत प्रसन्न हुआ।

लोगों ने पूछा "आपके साथ यह दुर्घटना कैसे हुई?"

"मैं विमान पर बैठा चला जा रहा था कि विमान का एक अङ्ग जैसे रोगी हो गया, उसका निरीक्षण करने मैं निकला तो पैर फिसल जाने के कारण आप लोगों के बीच आ पड़ा।

उत्साही नवयुवकों ने प्रश्न किया 'आपने तो अनेकों लोक देखे होंगे, क्या सब लोक एक ही प्रकार के हैं?'

देवपुत्र ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। उसने देखा कि उपस्थित लोगों के मुख पर उसके मुख से कुछ सुनने की इच्छा है। बोला—

'मैं आपको एक कथा सुनाता हूँ, जो मैंने अपनी आंखों देखी है। इस कथा का सम्बन्ध सभी सूक्ष्म स्थूल जीवधारियों से है।

'हम जीवन का भेद जानना चाहते हैं, एक युवा ने पूछा

'जल्दी न कीजिये, सुनिये समय कम है।

और वह बोला।

'आपको ज्ञात है कि सृष्टि की सीमा एक ओर स्थूलता और दूसरी ओर सूक्ष्मतम सूक्ष्मता है। एक दिन मैं सूक्ष्मता की अन्तिम सीढ़ी के निकट टहल रहा था तो मुझे कुछ फुसफुसाहट का स्वर सुनाई पड़ा। मैं एक ओर हट गया। एक उत्सुकता छिप कर सुनने की हृदय में जगी।'

'देखा यम और उसकी पत्नी यमानी आ रही हैं और यमानी जैसे किसी बात की हठ कर रही हैं।

'मैं अपने लिये नवीन महल बनाना चाहती हूँ'

'यम ने कहा' तुम मुझे बार बार तंग करती हो। प्रतिक्षण तुम्हें नवीन महल चाहिये।'

यमानी ने कहा 'मैं नहीं समझती थी कि तुम इतने आलसी हो।

यम सब गालियाँ सह सकते हैं, पर आलसी की गाली उनके लिये सबसे बड़ी गाली है।

"मैं अभी ईंटे लाता हूं और अपने हाथों से तुम्हारे लिये महल बनाता हूँ।

यम यमानी को अकेली छोड़कर अंतर्ध्यान हो गये। यमानी गर्व से मुस्का रहीं थी।

क्षण भर में यम आ उपस्थित हुये, और यमानी के लिये साथ लायी ईंटों से भवन निर्माण करने लगे।

यमानी को जैसे कुछ सन्देह हुवा, उन्होंने एक ईंट उठा ली। पहिले उसे देखा, फिर सूँघा और फिर उसके पश्चात मुख विचका कर बोली।

"नहीं मैं इन ईंटों के महल में नहीं रहूंगी।"

यम का मुख उतर गया।

"तुम्हारी रुचि विचित्र है, सृष्टि में इससे सुन्दर ईंटे अभी नहीं बनायी गई हैं।"

"मैं फिर कहती हूँ कि तुम परम आलसी हो। तुम जीवन-कण, आत्माएें ले आओ, मैंने एक नवीन प्रकार का प्रेस बनवाया है, सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ ईंटें उन जीवन-कणों को उसमें दबाने से बनेंगी। जाओ जब तक तुम एक लक्ष वैसे कण नहीं बटोर लाओगे मैं तुमसे नहीं बोलूँगी -।"

यह कह कर यमानी अंतर्ध्यान हो गयी। बेचारे यम इस नवीन समस्या का हल सोचने लगे। पर यमानी को प्रसन्न करने के लिये जीवन का शिकार तो करना ही था। उन्होंने झोला तैयार किया और किसी के उधर से निकलने का मार्ग देखने लगे।

कुछ क्षणों पश्चात् एक जीव उधर से निकला। सूक्ष्म लोकों में उन दिनों जीवों की संख्या इतनी अधिक न थी। उस आत्मा को देखकर यम के मुख में पानी भर आया। वे अचानक उसके सम्मुख अपना भयंकर रूप फैलाकर खड़े हो गये।

जीवन एक क्षण ठिठका, फिर बोला—

"मेरी गति में बाधा डालने वाला तू कौन है?"

"मैं हूं धर्म का राजा यम।"

"मार्ग छोड़!

"तुम मुझसे बचकर नहीं जा सकते।

तुम्हें इस झोले में बन्दी बनना होगा और उसके पश्चात् श्रीमती यमानी के प्रेस से तुम ईंट बनोगे। और जीवन, अपना सौभाग्य मान जो तुझसे यमानी का महल चुना जायगा।

परन्तु जीवन यम द्वारा सरलता से पराजित होने को प्रस्तुत न था। यम अपने पद के गर्व में फूले हुये थे। उन्हें ध्यान भी न था कि जीवन उनसे लड़ने की सोचेगा।

पर दूसरे क्षण ही बात उलट गयी। जीवन ने लपक कर यमानी द्वारा फेंकी गई ईंट उठाली और यम को ललकारा।

'निकट आने की चेष्टा की तो, सब...।' संकेत किया कि इसी ईंट से सिर तोड़ दूंगा यम के लिये चिंता का विषय था। उन्हें भागना पड़ा, और जीवन ने उनका पीछा किया।

सूक्ष्मतर लोकों में यमानी थी इसलिये वे लज्जा-वश उस ओर न भाग सके, वे भागे स्थूल-लोकों की ओर। और उनके पीछे भागा जीवन।

जीवन से पिण्ड छुड़ाने के लिये वे स्थूलतर लोकों में जाते पर जीवन उनके पीछे लगा रहता। पग पग पर उन्हें पराजित करता और पीछे भगाता जाता था।

देवपुत्र बोला कि मैं भी यह विचित्र कौतुक देखते देखते एक से दूसरे लोक में चक्कर काटता फिरा। जब वे मर्त्य-लोक में पहुँचे तो एक और भी विचित्र बात देखने को मिली। वह लोक स्थूलता की चरम-सीमा है।

यम के उस लोक में पहुँचते ही जीवन ने स्थूल शरीर में प्रवेश कर लिया। आगे आगे यम और पीछे पीछे शरीर धारी जीवन भाग चला। यम बारम्बार मैदान में डटने का प्रयत्न करता पर असफल होता। अंत में उसने पुनः सूक्ष्म में जाना विचारा और स्थूल-लोक से भागा। उसके भागते ही आत्मा (जीवन) को भी शरीर छोड़ उसका पीछा करना पड़ा।

उसने कहा कि मर्त्यलोक-वासी स्थूलता के कारण अपने को बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं जब जीवन को पराजित करने के लिये सूक्ष्म में उसके पीछे दौड़ा तो- समझे कि यम जीवन पर विजयी हो गया है। और मूर्खों की भांति लगे रोने

पीटने। इस मूर्खता में मुझे कुछ आनन्द आने लगा था, पर मैं यम का अंत में क्या होता है यह अवश्य देखना चाहता था। इसलिये मैं भी अपना शरीर छोड़ उनके पीछे दौड़ा।

आगे आगे भयभीत यम, उसके पीछे विजयी जीवन-आत्मा और उसके पीछे दर्शक मैं।

हम लोग अब सूक्ष्म-दिशा में लोक परलोक पार करने लगे। समय की धारा के वहते वहते अंग दुखने लगे पर फिर भी ठहरना नहीं था।

कई सूक्ष्म-लोक पार करने के पश्चात् जान पड़ा कि यम घबरा गये हैं। वास्तव में बात भी घबराने की थी। एक भी जीवन-कण नहीं पकड़ पाये थे और उलटे उससे पराजित भागे फिर रहे थे। बचने को आवश्यक था कि अपने महल में जा छिपें, पर वहां यमानी उनकी प्रतीक्षा कर रही होंगी वे अपना मुख किस प्रकार उसे दिखावेंगे।

यम ने लौट कर जीवन से लड़ने की ठानी, पर जीवन ने इतनी भीषणता से वह ईंट उसकी ओर घुमाई कि उसका साहस भिड़ जाने का न हुआ।

अंत में हम वहीं आ गये जहां से युद्ध प्रारम्भ हुआ था।

यम का पसीने से तर शरीर, हांफता उतरा मुख देखकर मुझे दया आ गई और उस पर पत्नी के सम्मुख अपमानित अवस्था में जाने की कल्पना करता तो लगता कि यम अवश्य आत्म-हत्या कर लेंगे।

पर जीवन ने उन्हें समय ही न दिया। यम को तनिक ठहरते देख उसने प्रहार करने की इच्छा प्रकट की और यम को फिर भागना पड़ा और भी सूक्ष्मतर लोक में।

जीवन ने भी उसका पीछा किया। कुछ दूर इस लोक में भागने के पश्चात् यम घूम कर खड़े हो गये। वह जानते थे कि वह ईंट अपने में कुछ स्थूलत्व का अंश लिये थी, इस लोक में नहीं आ सकेगी। उन्होंने देखा कि वास्तव में जीवन के हाथ में ईंट नहीं है।

वे अपनी बुद्धि पर अत्यंत प्रसन्न हुए। वे पहिले ही उस ओर क्यों नहीं भागे। अब वे यमानी के लिये जीवन एकत्रित कर सकेंगे। वे झपटे और उस जीवन पर टूट पड़े।

मैं आशा कर रहा था कि अब जीवन की करुण चीत्कार सुनाई पड़ेगी।

परन्तु उसके स्थान पर मैंने हँसी की खिल-खिलाहट सुनी।

और यम को छटक कर दूर खड़ा होते पाया। वे लज्जित हो रहे थे, हँस रहे थे और कृत्रिम क्रोध से कह रहे थे—

'तुम बड़ी वैसी हो।'

और यमानी ताली बजा बजाकर हँस रही थी।

'मेरे लिये ईंट लाये ?'

'क्षमा करो महारानी।'

और तब यमानी ने शीघ्रता से यम को बाहुपाश में भर लिया।

मैंने इन नयनों से जीवन और मृत्यु को आलि-गन करते देखा। वे दोनों उन्मत्त होकर एक दूसरे को चूम रहे थे।

'चलें'

'हां'

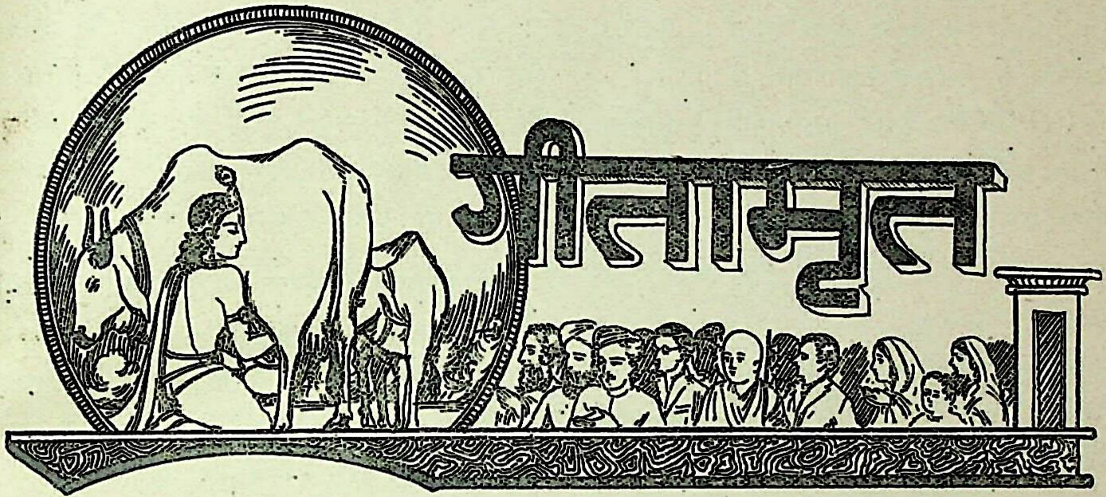
और इसके पश्चात् दोनों जैसे एक दूसरे में समाने प्रारम्भ हो गये। दो क्षण पश्चात् वहाँ कुछ भी नहीं था।

इतना कह कर देवपुत्र चुप हो गया।

कहानी मैं मुग्ध सुन गया। इच्छा हुई कि कुछ प्रश्न करूं, पर तभी जैसे किशोरसिंह हड़बड़ा कर उठे।

'मैं उस लोक में भी कप्तान ही हूं। वे लोग मुझे बुलाने आ रहे हैं।'

वे एक ओर को भागे। उनके पैर की ठोकर से पंखा गिर पड़ा। उसकी आहट से मेरी नींद खुल गयी। देखा कहीं कोई नहीं है, पर पंखा चौकी से नीचे पड़ा हुआ है, जैसे किसी की ठोकर लग गयी हो।



[लेखकः—श्री पं० दीनानाथ भार्गव 'दिनेश']

आत्मा में कोई विकार नहीं है; वह कभी वृद्ध या जर्जरित नहीं होता। आत्मा के अविनाशी-तत्त्व का बोध हो जाने पर मनुष्य भी कर्म के दोष से रहित हो जाता है। इस विषय में श्री भगवान् ने इस प्रकार कहा है—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

८	४	५	२	३	६	७
वेद,	अविनाशिनम्,	नित्यम्,	यः,	एनम्,	अजम्,	अव्ययम्
जानता है	अविनाशी	नित्य	जो	इसको	अजन्मा	अव्यय

११	९	१०	१	१२	१३	१५	१४
कथम्,	सः,	पुरुषः,	पार्थ,	कम्,	घातयति,	हन्ति,	कम्,
कैसे	वह	पुरुष	हे पार्थ	किसी को	मरवाता है	मारता है	किसको

अव्यय, अजन्मा, नित्य, अविनाशी इसे जो जानता।
कैसे किसी का वध कराता और करता है बता॥

अर्थ—हे पार्थ! जो इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे किसी को मरवाता है और कैसे किसी को मारता है।

व्याख्या—आत्मा के चार विशेषण हैं जिन्हें जान लेने पर मनुष्य निर्लेप हो कर रहता है।

(१) अविनाशी—शरीर के ६ विकार पिछले अंक में बताये जा चुके हैं उनमें अन्तिम भाव विकार मरण है। मरण से जो मुक्त हो उसका नाम अविनाशी है। शरीर की दशा बदलती रहती है और बदलते बदलते एक दिन उसका नाश हो जाता

है। आत्मा इस विकार से रहित है। यह सदा रहनेवाला है इस कारण अविनाशी है।

(२) नित्य—रोग, शोक जनित दुर्बलता, क्षीणता आदि विकार जिसमें नहीं हैं वह नित्य है। जिसका कभी अभाव न हो अर्थात् जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में एक रस रहे वह नित्य है।

(३) अज—जिसका कभी जन्म न हो वह अज है। ६ भाव विकारों में पहला विकार जन्म लेना है। जो जन्म लेता है वह तो मरता भी है आत्मा अविनाशी है इसलिये अजन्मा भी है।

(४) अव्यय—जिसके गुणों का व्यय न होता हो, जो न कभी कम हो न क्षय हो उसे अव्यय कहते हैं।

आत्म-तत्त्व को इस प्रकार जाननेवाला समझता है कि मेरे अन्दर जो शक्ति रूप आत्मा है वह विकारों से दूर है, सदा सनातन है, उसका व्यय नहीं होता। ऐसा पुरुष फिर न किसी का वध करवाता है और न करता है। वध करने का उदाहरण देकर यहां समझाया गया है कि आत्मज्ञानी पुरुष किसी भी कर्म का कर्ता और कर्म नहीं होता। आत्मा की निर्विकारता के कारण उसमें कर्तृत्व-बुद्धि रहती ही नहीं। जो आत्मवान् पुरुष है वह राग, द्वेष, स्वार्थ आदि से अलग रहता है, परन्तु आत्मा के मंदिर शरीर की रक्षा के लिये कर्तव्य करता हुआ सांसारिक झंझटों से युद्ध करने में नहीं चूकता। इस युद्ध के कर्तव्य-पालन क्षेत्र में न वह किसी की घात करता और न करवाता। घात उस कर्म के करने में होती है जो आसक्त हो कर अधर्म, अन्याय, राग, द्वेष और क्रूरता से किया जाय। आत्म-ज्ञानी पुरुष में राग, द्वेष, अधर्म और अन्याय आदि दूषित वृत्तियां होती ही नहीं, इसलिये भगवान् ने कहा है कि वह न किसी का घात करता है और न करवाता है।

कर्म मनुष्य करे और उसका कोई पाप उसे न लगे, इस बात में साधारण पुरुषों को संदेह हो सकता है; परन्तु आत्म-ज्ञान की स्थिति वास्तव में इतनी ऊंची है कि उसमें जो कुछ कर्म किया जाता है वह अपने लिये नहीं वरन् कर्तव्य-पालन के लिये, शरीर-यात्रा के लिये और लोक-संग्रह एवं विश्वकल्याण के लिये होता है। अविकारीभाव, नित्यभाव और अव्ययभाव से जो भी कर्म किया जायगा उसमें कर्तव्य का लेशमात्र भी अभिमान नहीं रह सकता। आत्मा मारने और मरने अथवा किसी के द्वारा मारे जाने के दोष से रहित है। शरीर का नाश होना तो एक परिवर्तनमात्र है। आत्मा के मरने मारने की कल्पना बिलकुल असत्य है। उसके लिये कोई दुःख या शोक नहीं होना चाहिये। अब केवल शरीर की बात रह जाती है, शरीर का तो नाश होता ही है। जब आत्मा का इस साकार विकारवान् शरीर से वियोग होता है तो यह मिट्टी हो जाता है। उस समय जिनका भी इस शरीर से सम्बन्ध होता है उन्हें शोक होता ही है। और सम्भव है कि आत्मा को भी एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते समय कष्ट होता हो। इसका समाधान करते हुए श्री भगवान् ने कहा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

[4] वासांसि,	[3] जीर्णानि,	[1] यथा,	[5] विहाय,	[7] नवानि,	[8] गृह्णाति,	[2] नरः,	[6] अपराणि
वस्त्रों को	पुराने	जैसे	छोड़कर	नये	ग्रहण करता है	मनुष्य	दूसरे
[9] तथा,	[12] शरीराणि,	[13] विहाय,	[11] जीर्णानि,	[14] अन्यानि,	[16] संयाति,	[15] नवानि,	[10] देही
वैसे ही	शरीरों को	छोड़कर	पुराने	और	धारण करता है	नये शरीरों को	जीवात्मा

जैसे पुराने त्याग कर नर वस्त्र नव बदलें सभी।
यों जीर्ण तन को त्याग नूतन देह धरता जीव भी ॥ २२ ॥

अर्थ—जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है इसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीर धारण करता है।

व्याख्या—यहां वस्त्र बदलने की उपमा देकर यह बतलाया गया है कि जैसे वस्त्रों के बदलने में बदलनेवाले को कोई शोक नहीं होता इसी प्रकार शरीर के बदलने में आत्मा को कोई शोक नहीं होता। और जैसे पुरुष पुराने कपड़ों को बदल कर निर्विकारी रहता है उसी प्रकार जीवात्मा भी शरीरों के बदलने में निर्विकारी रहता है। वस्त्र पहननेवाले में पुराना कपड़ा छोड़कर नया पहनते समय कोई विकार नहीं आता, शारीरिक मानसिक किसी प्रकार का क्लेश भी नहीं होता इसी प्रकार आत्मा को भी कोई क्लेश नहीं होता।

अब एक शंका यह होती है कि वस्त्र पुराना उस समय बदला जाता है जब नया वस्त्र सामने आजाय। आत्मा जिस समय पुराने शरीर को छोड़ता है उस समय दूसरा शरीर नया, पुराना, अच्छा या बुरा कैसा होता है इसका तो उसे कुछ पता नहीं चलता क्योंकि यह प्रत्यक्ष नहीं दिखता है। जैसे कपड़े पुराने छोड़े जाते हैं इसी प्रकार भगवान् के कथन के अनुसार शरीर भी वही छोड़ा जाता है जो पुराना हो और जैसे दूसरा जो वस्त्र ग्रहण किया जाता है वह नया होता ही है, इसी प्रकार जो दूसरा शरीर आत्मा ग्रहण करता है वह नया होता है, यह भी भगवान् के कथन से स्पष्ट है।

अब प्रश्न है दिखने का। वस्त्र बदलते समय जब दूसरा वस्त्र तय्यार होकर सामने आजाता है तब मनुष्य पुराना छोड़कर उस नये बने हुए को लेता है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि वस्त्र उसी समय बदला जाता है जब दूसरा तय्यार हो जाये। दूसरा वस्त्र वैसा ही पहना जाता है जैसा बदलनेवाले का मन और धन हो। आत्मा इस शरीर में रहकर कर्मों के संस्कारों में बंधता है। ये संस्कार उसके लिये आगे मिलनेवाला नया शरीर तय्यार करते हैं। जिस समय वह नया शरीर पूरा बन जाता है और पुराने शरीर में आत्मा रह नहीं पाता उस समय वह इसे बदल कर उसे लेलेता है। बृ० उपनिषद् में कहा गया है कि—

यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मान मुपसंहरत्येव मेवाय मात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥

जैसे घास का कीड़ा पहिले घास के आगे के हिस्से पर जाता है, वहाँ अपना आधा भाग पहिले

पर रखकर दूसरा आधा भाग दूसरे तिनके पर टिका देता है और अगला आधार पकड़ लेने पर ही पिछला छोड़ता है, इसी प्रकार यह आत्मा शरीर के जीर्ण होने पर दूसरे देह का आश्रय निश्चित कर लेने पर ही पहिले को छोड़ता है।

अब यह शंका होती है कि नया वस्त्र तो मनुष्य अपनी खुशी से प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता है। क्या आत्मा प्रसन्नता से एक शरीर त्यागकर दूसरा शरीर लेता है ?

सुख दुःख, अच्छे बुरे आदि के विकार तो देह में ही आरोपित होते हैं। आत्मा को न प्रसन्नता होती है न क्लेश वह तो अविनाशी, नित्य अज और अव्यय रूप में विचरता है। स्थूल देह के संस्कारों से जब दूसरा भवन तैयार हो जाता है तो वह इसमें से उसमें चला जाता है। महाभारत में इसीलिये घर की उपमा देकर दिखाया है—

यथाहि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥

ज्यों एक से नर दूसरे घर को बदलता है कभी।
त्यों एक तन से दूसरा तन प्राप्त करता जीव भी ॥
—महाभारत

अब एक शंका और होती है। श्रीभगवान् ने पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र बदलनें के लिये कहा है। पुराने वस्त्र कब होते हैं, कैसे होते हैं और क्यों होते हैं ? कोई पुरुष तो वस्त्रों को चार दिन में ही पुराना समझकर छोड़ देते हैं, कुछ महीने में, कुछ छे महीने में, कुछ वर्ष में और कुछ महात्मा जन आजन्म एक ही लँगोटी लगाए रहते हैं। आत्मा कब समझता है कि शरीर जीर्ण हो गया अब इसे छोड़ देना चाहिये ? जैसे वस्त्र बदलना बदलनेवाले की इच्छा पर है, इसी प्रकार क्या शरीर बदलना आत्मा की इच्छा पर है ?

वस्त्र कब पुराना होता है यह तो देखने से ही विदित हो जाता हैं। संसार में पंचतत्त्व अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। जिस समय वस्त्र पर पृथ्वी की धूल का असर होता है तो उस पर मैल लगता है, वायु का असर होते ही वह बोदा होने लगता है, जल का असर हो जाने पर वह गल जाता है और धूप का असर होते ही वह जीर्ण होकर फट जाता है तब मनुष्य को उसे छोड़ देना पड़ता है। वह उसके योग्य नहीं रहता। योग्यता के माप से देखने पर मालूम होता है कि कुछ ऐसे सम्पन्न व्यक्ति हैं जो वस्त्र पर धूल पड़ते ही यानी मैला होते ही छोड़ देते हैं और कुछ जरा गल जाने पर छोड़ते हैं। कुछ कट फट जाने पर और कुछ जबरदस्ती घसीटते भी हैं। इसी प्रकार आत्मा जिस देह में रहता है वह पाँच तत्त्वों से बना हुआ है। जब उसमें प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन से अथवा कालवश तत्त्वों की घटा बढ़ी होने लगती है तब वह धीरे-धीरे जीर्ण हो जाता है और इतना जीर्ण हो जाता है कि एक न एक दिन आत्मा उसे छोड़कर उस शरीर के संस्कारों से तय्यार किये हुए दूसरे घर में चला जाता है। वह कब जाता है यह शरीरधारी के शुभ कर्मों और संचित कर्मों तथा साधना पर निर्भर है कि वह कब तक तत्त्वों का संगठन रखकर शरीर को स्वस्थ बनाये रखकर उसमें आत्मा को टिकाये रखता है। जिस समय में बुरे कर्मों से, अधर्म अन्याय से या पूर्व संस्कारों से तत्त्वों का संगठन टूट जाता है, आत्मा राम तत्काल ही दूसरा घर बदल लेते हैं।

साधारणतया मृत्यु कब आती है यह समय

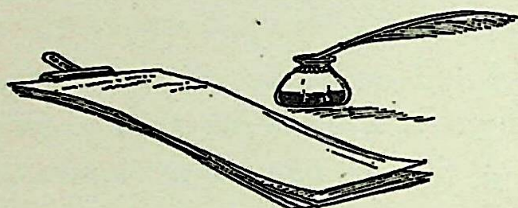
निश्चित होता है। परन्तु विशेष परिस्थितियों में उच्च विचार, अच्छेकर्म, गंभीरसाधना, तपस्या और ब्रह्मचर्य द्वारा जो श्रेष्ठ-पुरुष शरीर के तत्त्वों का संगठन नहीं टूटने देते, उनका शरीर जीर्ण नहीं होता और जब जीर्ण नहीं होता तो आत्मा उसे छोड़े क्यों। इस प्रकार बहुत से महात्मा, योगी और तपस्वी हजारों वर्ष तक की आयु पाते हैं और बहुत से नियम संयम से चलनेवाले गृहस्थी भी इच्छा मृत्यु बन जाते हैं। भीष्म पितामह ऐसे ही इच्छा-मृत्यु थे। मार्कण्डेय, काकभुशुण्ड, लोमश, अश्वत्थामा आदि ने शरीर को अमर ही बना लिया। इस प्रकार जिसका शरीर जिस समय जीर्ण हो जाता है, उसी समय उसका आत्मा उसे छोड़ देता है। जो शुभ कर्मों, संस्कारों, तप और ब्रह्मचर्य से जितने दिन शरीर को जीर्ण नहीं होने देगा उतने दिन ही वह जीवित रह सकता है। वेद कहते हैं कि—

'ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्यु मुपाघ्नत' अथर्व०

ब्रह्मचर्य्य और तप से देवता मृत्यु को जीत लेते हैं।

साधारण बात प्रसिद्ध है कि मनुष्य की आयु १०० वर्ष की तो होती ही है। इसी के अनुपात से २५ वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम २५ वर्ष गृहस्थाश्रम २५ वर्ष वानप्रस्थ और २५ वर्ष संन्यास आश्रमके निश्चित किये गये हैं। जो भी स्त्री पुरुष नियम, तथा शुद्धाचरण से रहकर कर्तव्य का पालन करते हुए अपनी शक्ति क्षीण नहीं होने देंगे वे १०० वर्ष तो अवश्य ही जीवित रहेंगे। ध्यान रहे कि इस बीच में जब भी शरीर जीर्ण हो जायगा आत्मा तत्काल ही उसे पुराने वस्त्रों की भाँति छोड़ देगी।

अपनी बात



मनुष्य जितना और जो कुछ है उससे आगे बढ़ने का वह प्रयत्न करता है और उसे करना भी चाहिये। यह प्रयत्न ही युद्ध है। इस युद्ध में विजय मिले यही जीवन की सबसे बड़ी अभिलाशा है। दीनता, हीनता, मलीनता, पाप, ताप, भय, चिन्ता को जीतकर सामर्थ्य, शक्ति, श्री, ज्ञान, आनन्द और शांति की ओर बढ़े चलने के लिये युद्ध करना मनुष्य का धर्म है। इस दृष्टिकोण से जीवन एक युद्ध है जिसका विजयपूर्ण अन्त स्वर्ग का साम्राज्य लाभ है और पराजय नरक का कठिन कारावास है।

जीवन युद्ध से अधिक स्थूल समाज-युद्ध है और समाज युद्ध से अधिक स्पष्ट धर्म-युद्ध है।

हमारा उज्ज्वल इतिहास धर्मयुद्धों से भरा पड़ा है। धर्म के कारण हमारी विजय पताका भूमण्डल पर फहराती थी। धर्म-भ्रम द्वारा बन्दी बनाकर रखा हुआ पृथ्वीराज चौहान अपने धर्म तेज के कारण मृत्यु से युद्ध करते करते भी शत्रु का अन्त करगया। आज शताब्दियों से कुचले जाने पर भी हमारी धर्म में ज्यों की ज्यों आस्था है। प्राचीन समय में तो अपने धर्म को कायम रखने के लिये युद्ध होते ही थे परन्तु आज भी धर्म के लिये बलिदान तय्यार रहता है। मानवता के रक्षक के लिये धर्मयुद्ध नितान्त आवश्यक है। मानवमात्र में प्रेम सद्भावना और सेवा का भाव भरा रहे, इसके लिये उसे धर्म का आश्रय लेकर अन्याय और अत्याचारों के मुकाबले खड़ा होना ही पड़ता है, कारण धर्म का लोप हो जाने पर मानवता भी नहीं रह सकती।

आज परतन्त्रता की जञ्जीरों में जकड़ा हुआ मनुष्य अपनी दीन अवस्था में भी धर्म युद्ध में विजयी की भांति सिर ऊँचा किये हुए है। विश्व के असंख्यों बन्धु मानवधर्म को ठुकराने और उसकी अवहेलना करने के लिये तय्यार हो गये तभी तो इस तामसी नृशंस क्रूर हत्याकाण्ड रूप युद्ध का सूत्र-पात हुआ। युद्ध सदैव होता आया है और होता रहेगा। केवल उसके रूप में भेद है। अहिंसा और त्याग, युद्ध का सात्विक स्वरूप है। विश्व में जहां भी अहिंसा और त्याग के बल पर युद्ध किया गया वहां स्थायी विजय प्राप्त होती देखी गई है। महात्मा ईसा का धर्म के लिये युद्ध और उसका परिणाम आज मानो जीवित होकर विश्व के अनेक भागों पर शासन कर रहा है। मोहम्मद साहब के धर्मयुद्ध ने मुसलमान जाति में एक जीवन डाला था। हिन्दू शासन काल की बात तो क्या इस युग के गुलामी काल तक में लड़े गये हिन्दू-धर्म

युद्धों का उदाहरण विश्व के इतिहास में नहीं मिल सकता। विधर्मियों की नङ्गी तलवारें अपने अत्याचारों से टकराकर आप ही टूटगईं, परन्तु हमारे धर्म, उसकी संस्कृति और सभ्यता की भावना नहीं मिट सकी। इस जाति ने एक न एक ऐसा डिक्टेटर आगे किया जो धर्म-युद्ध में विजयी होकर अमर होगया। जगद्गुरु शंकराचार्य, कबीर, नानक, तुलसीदास, सूरदास, समर्थ रामदास, रामकृष्ण, परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, महात्मा लोचनदास आदि धर्मवीरों ने कभी धर्म की हार न होने दी। महाराणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह और महात्मा गांधी जैसे वीर धर्मयुद्ध के लिये ही अवतरित हुए हों ऐसा प्रतीत होता है।

जहां अधिकारों की मांग होगी, जहां शासन का विधान होगा और जहां उन्नति की आकांक्षा होगी वहां युद्ध अवश्य होंगे। सात्विक युद्धों में सदैव सत्य, धर्म, उन्नति, समत्व और स्वतन्त्रता की भावना रहती है। परन्तु जब सांसारिक लिप्सा और धन आदि के लिये युद्ध होता है तो वह राजसी रूप धारण करता है। ऐसे युद्धों में राजा और राजा, उनकी सेना और साथी युद्ध करते हैं परन्तु प्रजा को कोई कष्ट नहीं होता। जिस समय स्वार्थपूर्ति, साम्राज्य-लिप्सा, मनमानी और आपाधापी के लिये युद्ध होता है तब वह तामसी रूप धारण करता है। घोर हिंसा, अन्याय, जहरीली गैस, अनेक षड्यन्त्र आदि का सहारा लेकर तामसी युद्धों में राजा, प्रजा, बालक, स्त्री, पुरुष, व्यापार सभी पर संकट आजाता है।

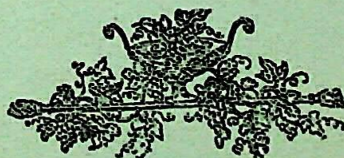
भारतवर्ष में सात्विक और कभी-कभी राजसी युद्ध भी हुए परन्तु तामसी युद्धों को उसने सदा से त्याज्य समझा है। यहां तक कि अपनी भावना के आवेश में उसे धर्म में भी भ्रम हुआ वह न वीर रहा न धर्मात्मा बल्कि गुलाम बन गया।

मुसलमानी शासन में उसने जैसे तैसे अपनी रक्षा की और जीवित रहा। अंग्रेजों का शासन आर्थिक-युद्ध से प्रारम्भ हुआ उसमें धार्मिक स्वतन्त्रता और मत मतान्तर पर सरकार ने जरा भी हस्ताक्षेप नहीं किया। परन्तु जिस अज्ञता से हम गुलाम बने थे, उसने धीरे धीरे हमें ऐसा बना दिया कि हम केवल मंदिरों में घंटा बजानेवाले ही रहगए। धर्म का मर्म हमने समझने का प्रयत्न भी छोड़ दिया। रही सही स्वतन्त्रता और आत्म-सम्मान रोटियों के टुकड़ों के पीछे लुटगया। अब हमारे पास न शस्त्र ज्ञान है और न शास्त्र-ज्ञान। इस दयनीय दशा पर विचार करना उचित ही नहीं जाति के जीवन के लिये अनिवार्य है। हमारा विचार है कि मानवधर्म का युद्धाङ्क निकाल कर आपको एक बार आपके गौरवपूर्ण युद्धों का और आज के युद्धों का दिग्दर्शन करायें। यदि आप सबका सहयोग रहा तो शीघ्र ही सचित्र युद्धाङ्क आपकी सेवा में हम उपस्थित करेंगे।



महात्माओं, लेखकों, कवियों, विद्वानों, चित्रकारों और जो भी युद्धाङ्क में लेख, कविता, कहानी, कार्टून चित्र आदि दे सकें, उनसे प्रार्थना है कि वे शीघ्र ही भेजने की कृपा करें। विषय-सूची के अनुसार युद्धाङ्क की सामग्री जुटाने में आपके सहयोग का हम हृदय से स्वागत करेंगे।

मानवधर्म के युद्धांक की विषय सूची



मानवधर्म कार्यालय, पीपल महादेव देहली ।

June 1943

Regd. No. L-4824

MANAVA DHARMA

मानवधर्म का युद्धांक

मानवधर्म का युद्धाङ्क सुनकर शायद पाठकों को भ्रम हो कि युद्ध का धर्म के साथ क्या सम्बन्ध ?

मानवधर्म के सम्पादक मंडल ने युद्धाङ्क की जो रूपरेखा दी है उसे पढ़ते ही यह भ्रम दूर हो सकता है।

साहित्यिक और धार्मिक जगत् में युद्धाङ्क अपने ढंग का निराला ही अंक होगा।

आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक युद्ध, शारीरिक मानसिक और आत्मिक युद्ध, सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी युद्ध, पौराणिक युद्ध, धर्म के लिये युद्ध, धर्म रक्षा के लिये भगवान् के युद्ध, जीवन के लिये युद्ध, भारतीय युद्ध कला आदि नई मनोरंजक, जानने योग्य और लाभप्रद विषयों की चर्चा आपको युद्धाङ्क में मिलेगी।

युद्धाङ्क

उच्चकोटि का स्थायी साहित्य तथा धर्म, विज्ञान और कर्तव्य की जानकारी का अंक होगा।

विज्ञान की कहानी, मनोरंजन का साहित्य, क्रन्दन की गूँज, रोमांचकारी घटनायें, अधर्म का विनाश और धर्म की संस्थापना का दर्शन युद्धांक में कीजिये।

युद्धांक न तो युद्ध का प्रोपेगेण्डा करने के लिये निकाला जा रहा है और न युद्ध के विरोध में। राजा या प्रजा किसी का विरोध या पक्ष इसका उद्देश्य नहीं। जीवन एक युद्ध है और उसमें हम विजयी कैसे हों, यही 'युद्धांक' में आपको मिलेगा।

Printed & Published by Dina Nath Bhargava 'Denesh' at the Jamna Printing Works, Peepal Mahadev, Delhi.